

स्क्रीन का सच, ज़मीन का झूठः हिंदुस्तानी मुसलमान और मीडिया की अदालत



लेखक : डॉ.सैयद नासिर शाह

स्क्रीन का सच, ज़मीन का झूठ (हिंदुस्तानी मुसलमान और मीडिया की अदालत)

लेखक : डॉ. सैयद नासिर शाह

© 2025, डॉ. सैयद नासिर शाह

Published By : Qalamse.com (Official Website)

तशक्कुर (शुक्रिया नामा)

सबसे पहले मैं **अल्लाह रब्ब-उल-इज़्ज़त** का बे-पायाँ शुक्र अदा करता हूँ, जिसकी अता करदा बेहिसाब नेमतों और करम के बग़ैर मेरा कोई भी काम मुकम्मल नहीं हो सकता। उसी की तौफ़ीक़ और रहमत से मुझे यह हिम्मत और शऊर मिला कि मैं अपने ख्यालात, मुआशरे के दर्द और अपनी फ़िक्र को अल्फ़ाज़ के साँचे में ढाल सकूँ और अपनी इस किताब, **“स्क्रीन का सच, ज़मीन का झूठ: हिंदुस्तानी मुसलमान और मीडिया की अदालत”**, को मुकम्मल कर सकूँ।

“स्क्रीन का सच, ज़मीन का झूठ: हिंदुस्तानी मुसलमान और मीडिया की अदालत” को कागज़ के पन्नों पर उतार कर आप तक पहुँचाने के इस सफ़र में, मैं **Qalamse.com** की पूरी टीम का निहायत ममनून और शुक्रगुज़ार हूँ। एक मुसन्नफ़ि के लिए उसकी तहरीर ही सब कुछ होती है, और **Qalamse.com** ने मेरी इस कोशिश पर जो ऐतमाद जताया और इसे निहायत खूबसूरती के साथ पब्लिश करके मंज़र-ए-आम पर लाने का ज़िम्मा उठाया, उसके लिए मैं उनका तहे-दिल से शुक्रिया अदा करता हूँ। उनकी बेहतरीन रहनुमाई और पेशेवर मदद के बिना इस किताब का इस उम्दा शक्ल में सामने आना मुमकिन नहीं था।

उन तमाम अहबाब का भी शुक्रिया जिन्होंने किसी भी तरह से इस सफ़र में मेरा साथ दिया और मेरा हौसला बढ़ाया।

दुआगो,
डॉ. सैयद नासिर शाह
लेखक / विचारक

इंतिसाब

यह किताब, “**स्क्रीन का सच, ज़मीन का झूठ: हिंदुस्तानी मुसलमान और मीडिया की अदालत**” जिसके हर वरक़ पर मुआशरे का दर्द और एक कड़वी हकीकत रक़म है, मैं निहायत अकीदत के साथ मंसूब करता हूँ:

अपने मरहूम वालिद जनाब **डॉ. सय्यद मशहूद अली** और शफीक वालिदा मोहतरमा **सबीहा जबीन** के नाम, जिनकी पाकीज़ा तरबियत और दुआओं ने मुझे हमेशा हक़ और सच की राह पर चलने का हौसला बख़्शा।

अपने अज़ीज़ मरहूम बड़े भाई **डॉ. सय्यद यासिर यज़दानी** के नाम, जिनकी बे-लौस मुहब्बत और हसीन यादें मेरे दिल का कीमती सरमाया हैं, और जिनकी जुदाई का दर्द आज भी मेरी रूह में ताज़ा है।

अपनी शरीक-ए-हयात **रुख़सार नासिर** और **नाबिश** के नाम, जिन्होंने इस तवील, कठिन और सब्र-आज़मा फिक्री सफर में हर कदम पर मेरा खामोश और मज़बूत साथ दिया।

और अपनी तीनों बेटियों, **सय्यदा ज़ैनब फातिमा**, **अज़ीज़ा ज़हरा मरवा** और **अज़ीज़ा इरहा हयात** के नाम, इस उम्मीद, दुआ और यकीन के साथ कि उनका मुस्तकबिल एक ऐसे मुआशरे में परवान चढ़ेगा जो खौफ के बजाय अदल, तालीम, बराबरी और बा-वकार शऊर पर मबनी हो।

दुआ-ए-मगफिरत की खास दरखास्त

मैं इस किताब के तमाम कारीर्डन (पढ़ने वालों) से निहायत आजिज़ी, खुलूस और अदब के साथ दरखास्त करता हूँ कि वह अपनी दुआओं में मेरे खानदान के उन अज़ीम बुजुर्गों और अज़ीज़ों को ज़रूर याद रखें जो अब इस दुनिया-ए-फानी से रुखसत हो चुके हैं। उनका इल्मी, रूहानी और समाजी विरसा ही मेरी असल ताक़त है और उन्हीं की पाकीज़ा तरबियत का सदका है कि मैं हक़ की इस जद्दोज़हद में अपना कदम बढ़ा सका। मेरी आपसे इल्तिजा है कि अल्लाह रब्ब-उल-इज़ज़त की बारगाह में इन तमाम अरवाह-ए-तैय्यबा की मगफिरत, उनके दर्जात की बुलंदी और जन्नत-उल-फिरदौस में आला मकाम के लिए खुसूसी दुआ फरमाएं:

- मेरे परनाना: **अल्लामा अनवर शाह कश्मीरी**
- मेरे परदादा: **हकीम सय्यद महफूज़ अली साहब**
- मेरे दादा: **हकीम सय्यद महमूद अली साहब**
- मेरी दादी: **सय्यदा आबिदा खातून**
- मेरे नाना: **सय्यद अज़हर शाह कैसर साहब**
- मेरी नानी: **सय्यदा राशदा खातून**
- मेरे मोहतरम वालिद: **डॉ. सय्यद मशहूद अली साहब**
- मेरे मामा: **सय्यद राहत शाह साहब, मौलाना नसीम अख्तर शाह साहब और सय्यद अतहर शाह साहब**
- मेरे चचा: **हकीम सय्यद मुशर्रफ अली साहब और हकीम सय्यद आसिफ अली साहब**
- मेरे खालू: **सय्यद मरगूब अहमद साहब**
- मेरे अज़ीज़ बड़े भाई: **डॉ. सय्यद यासिर यज़दानी साहब**
- और मेरे दोस्त, **अहबाब** और **रिशतेदार** जो इस दुनिया से रुखसत हो गए।

अल्लाह रब्ब-उल-इज़ज़त इन तमाम मरहूमीन की कब्रों को नूर से भर दे, उनकी खताओं को दरगुज़र फरमाए, उनकी नेकियों को कुबूल फरमाए और उन्हें अपने जवार-ए-रहमत में आला तरीन मकाम अता फरमाए। **आमीन।**

विषय-सूची (Index)

| अध्याय / शीर्षक | पृष्ठ संख्या |

- | तशक्कुर (शुक्रिया नामा) | प्रारंभिक |
- | इंतिसाब | प्रारंभिक |
- | दुआ-ए-मफिरत की खास दरख्वास्त | प्रारंभिक |
- | आखिर मुझे यह किताब लिखने की ज़रूरत क्यों महसूस हुई? | 7 |
- | मुकदमा: चौथा स्तंभ – उम्मीद और हकीकत | 9 |**
- | एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान का मीडिया से रिश्ता कैसे शक ? | 13 |
- | पहला बाब: आईना कैसे धुंधला हुआ? (इतिहास की नज़र से) | 16 |**
- | बाबरी मस्जिद विध्वंस से लेकर 9/11 तक: नैरेटिव | 20 |
- | ‘इस्लामोफोबिया’ का भारत के न्यूज़ रूम में प्रवेश | 24 |
- | दूसरा बाब: पर्दे का मुसलमान – सिनेमा और स्टीरियोटाइप | 27 |**
- | ‘रहीम चाचा’ से लेकर ‘खूंखार विलेन’ तक का सफर | 30 |
- | आम नौकरीपेशा, पढ़े-लिखे मुसलमान को | 33 |
- | तीसरा बाब: न्यूज़ रूम की अदालत और टीआरपी का खेल | 36 |**
- | ‘नकली नुमाइंदे’: टीवी पर वो कौन लोग हैं जो पूरे | 40 |
- | शब्दों का खेल: आतंकवाद, जिहाद और तुष्टिकरण..... | 43 |
- | चौथा बाब: डिजिटल दौर, ‘क्लाट्सएप यूनिवर्सिटी’ | 47 |**
- | पुराने और दूसरे देशों के वीडियो को कैसे मुसलमानों...जाता है? | 50 |
- | समाज के अवचेतन मन का लगातार ब्रेनवॉश | 53 |
- | पाँचवाँ बाब: ज़मीनी हकीकत – स्क्रीन की आग, | 56 |**
- | नौकरी, मकान और व्यापार में आने वाली दिक्कतें | 59 |
- | अपनी पहचान (नाम, लिबास, दाढ़ी) को लेकर असुरक्षा | 62 |
- | छठा बाब: खुद-एहतेसाबी – हम कहाँ चूके ? | 65 |**
- | हमने अपना पक्ष और अपनी कहानी दुनिया.....बताई? | 68 |
- | हमारे अपने समाज की कमियाँ जो दूसरों को | 71 |
- | आखिरी बात: आगे का रास्ता और हमारा नज़रिया| 73 |**
- | अपना नैरेटिव खुद कैसे बनाएं? | 76 |
- | नई पीढ़ी के लिए एक पैगाम:..... | 79 |
- | पाठकों के लिए सूचना: आपत्ति एवं सुधार | 82 |

आखिर मुझे यह किताब लिखने की ज़रूरत क्यों महसूस हुई?

अक्सर रातों को जब मैं खामोशी से बैठता हूँ, तो ज़हन में एक ही ख्याल गर्दिश करता है कि आखिर हालात यहाँ तक कैसे पहुँच गए? एक वक्त था जब हमारे पड़ोस की दीवारें छोटी हुआ करती थीं और दिलों के फासले ना के बराबर। लेकिन फिर हमारे घरों की बैठकों में एक ऐसा बक्सा दाखिल हुआ, जिसने दीवारों को तो नहीं, पर ज़हनों को ज़रूर बांट दिया। स्क्रीन के इस छोटे से शीशे ने एक ऐसा तिलिस्म रच दिया है जहाँ सच और झूठ का फर्क मिट चुका है। इसी बेचैनी ने मुझे इस बात पर मजबूर किया कि मैं कलम उठाऊँ और उस सच को कागज़ पर उतारूँ जो इस नफरत भरे शोर में कहीं दब गया है।

यह किताब लिखने का ख्याल मुझे किसी एक दिन या किसी एक वाकये से नहीं आया। यह उन तमाम दिनों की घुटन का नतीजा है जब मैंने देखा कि कैसे एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान की शक्ल को न्यूज़ चैनलों की अदालत में तब्दील कर दिया गया। जब मैं सड़क पर निकलता हूँ, तो मुझे वो मुसलमान नज़र आता है जो रोज़ी-रोटी की फिक्र में है, जो अपने बच्चों की तालीम के लिए पसीना बहा रहा है, जो मुल्क की तरक्की में अपना छोटा ही सही पर पक्का हिस्सा डाल रहा है। लेकिन जैसे ही मैं ख़बरों के चैनल खोलता हूँ, तो मुझे एक ऐसा खूँखार अक्स दिखाया जाता है जिसका असल ज़िंदगी से कोई वास्ता ही नहीं। स्क्रीन का यह झूठ इतनी बार और इतनी ऊँची आवाज़ में बोला जा रहा है कि अब ज़मीन का सच भी उस पर यकीन करने लगा है।

मुझे यह किताब इसलिए लिखनी पड़ी क्योंकि अगर आज हम अपनी कहानी खुद नहीं लिखेंगे, तो कल कोई और हमारी दास्तान को एक मुज़रिम के तौर पर लिखेगा। एक पूरी की पूरी नस्ल इस ज़हरीली साज़िश का शिकार हो रही है। हमारे नौजवान अपने ही मुल्क में, अपनी ही ज़मीन पर अपनी पहचान को लेकर खौफ और शक के साये में जीने लगे हैं। उनके ज़हन में यह बात बैठाई जा रही है कि वो इस समाज का हिस्सा नहीं, बल्कि एक मसला हैं। मैंने गहराई से महसूस किया कि अगर इस वक्त खामोशी इख्तियार की गई, तो यह खामोशी हमारी आने वाली नस्लों के लिए एक बहुत बड़ी सज़ा बन जाएगी।

लोग कहते हैं कि वक्त हर ज़ख्म भर देता है, लेकिन जो ज़ख्म रोज़ रात की बहसों में कुरेदे जाते हों, वो कभी नहीं भरते। मैंने देखा कि कैसे लफ़्ज़ों का जाल बुनकर नफरत का एक पूरा कारोबार खड़ा कर दिया गया है। ऐसे में किसी ना किसी को तो उठकर आईना दिखाना ही था। यह किताब कोई शिकायतनामा नहीं है, और ना ही यह किसी से कोई रहम की भीख मांग रही है। यह महज़ एक कोशिश है उस धुंध को साफ करने की जो हमारी और आपकी आँखों पर डाल दी गई है।

इस सफर की शुरुआत करते हुए मेरे दिल में बस एक ही मकसद है—हकीकत को उसके असली रूप में पेश करना। स्क्रीन पर गढ़े गए उस नकली तिलिस्म को तोड़कर, ज़मीन पर मौजूद उस आम हिंदुस्तानी मुसलमान की असली तस्वीर को दुनिया के सामने लाना, जिसकी आवाज़ को झूठे शोर में बेदर्दी से कुचल दिया गया है। क्योंकि जब तक ज़मीन का सच, स्क्रीन के झूठ से आँख नहीं मिलाएगा, तब तक यह इंसाफ की अदालत ऐसे ही एकतरफा फैसले सुनाती रहेगी।

मुकदमा: चौथा स्तंभ – उम्मीद और हकीकत

लोकतंत्र में मीडिया की असली जगह क्या थी और आज वह कहाँ खड़ी है?

बचपन में जब स्कूल की किताबों में हमने पहली बार लोकतंत्र के बारे में पढ़ा था, तो हमारे उस्ताद एक बहुत ही खूबसूरत मिसाल दिया करते थे। वो समझाते थे कि लोकतंत्र यानी जम्हूरियत एक ऐसी अज़ीम इमारत है, जो चार मज़बूत स्तंभों पर टिकी होती है। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका—ये तीन स्तंभ तो हुकूमत और कानून का ढांचा बनाते हैं, लेकिन इस पूरी इमारत को जो चौथा स्तंभ सबसे ज़्यादा ताकत देता है, वो है मीडिया। उस वक्त हमारे कच्चे ज़हनों में मीडिया की तस्वीर एक ऐसे निडर पहरेदार की बनती थी, जो रात के अंधेरे में भी जागता है ताकि अवाम सुकून की नींद सो सके। मीडिया की असली जगह एक साफ आईने की तरह थी, जिसका काम सिर्फ और सिर्फ सच दिखाना था, चाहे वो सच कितना ही कड़वा क्यों न हो, या सामने खड़ा चेहरा कितना ही ताकतवर क्यों न हो। आईने की फितरत होती है कि वो न किसी से डरता है, न किसी का पक्ष लेता है और न ही किसी को खुश करने के लिए अपनी तस्वीर बदलता है।

अगर हम थोड़ा पीछे मुड़कर देखें, तो समझ आता है कि पत्रकारिता की बुनियाद कितनी पाक और मज़बूत थी। आज़ादी की लड़ाई से लेकर आज़ादी के बाद के कई दशकों तक, मीडिया का काम महज़ खबरें छापना या खबरे सुनाना नहीं था। वो समाज का ज़मीर था। एक दौर था जब अखबार के पन्नों पर छपी स्याही की कीमत किसी सरमायेदार की तिजोरी से नहीं, बल्कि एक आम इंसान के भरोसे से तय होती थी। लोग सुबह उठकर अखबार के लफ़्ज़ों पर वैसे ही यकीन करते थे जैसे किसी मोतबर किताब पर किया जाता है। पत्रकार होना कोई पैसे या चमक-दमक का काम नहीं था, बल्कि यह एक ज़िम्मेदारी थी, एक इबादत की तरह। तब कलम की ताकत तलवार से कहीं ज़्यादा हुआ करती थी। अगर किसी छोटे से अखबार के कोने में भी किसी हुक्मरान की गलती छप जाती थी, तो सत्ता के गलियारों में खलबली मच जाती थी। मीडिया की आवाज़ में वो खनक थी जो संसद के बंद दरवाज़ों को भी हिलाने का माद्दा रखती थी। उस वक्त का मीडिया अवाम की आवाज़ था, उन लोगों की ज़बान था जिन्हें समाज में सबसे पीछे धकेल दिया गया था। वो मज़लूमों का सहारा था और ज़ालिमों के लिए एक खौफ।

लेकिन वक्त हमेशा एक सा नहीं रहता। जैसे-जैसे हम आधुनिकता और मुनाफे की तरफ दौड़े, हमारी इस जम्हूरियत की इमारत के चौथे स्तंभ में दीमक लगने लगी। जो मीडिया कभी एक मिशन हुआ करता था, वो धीरे-धीरे एक बहुत बड़े बाज़ार में तब्दील हो गया। खबरें, जो कभी समाज को बेदार करने और जगाने का ज़रिया थीं, वो बाज़ार में बिकने वाला एक सामान बन गईं। यहीं से उस ज़वाल की शुरुआत हुई जिसने आज मीडिया को उस दलदल में धकेल दिया है, जहाँ से बाहर निकलने का रास्ता अब किसी को नज़र नहीं आता। बाज़ार के इस शोर में कलम की खामोश ताक़त कहीं खो गई और उसकी जगह लाउडस्पीकर की कान फोड़ देने वाली आवाज़ों ने ले ली। आज वह कहाँ खड़ा है? इस सवाल का जवाब किसी भी आम हिंदुस्तानी के दिल से पूछिए, आपको एक गहरी मायूसी और एक अजीब सा गुस्सा मिलेगा। आज का मीडिया लोकतंत्र का पहरेदार नहीं रहा, बल्कि वो एक बहुत बड़े और खतरनाक सियासी खेल का मोहरा बन चुका है। आज की पत्रकारिता उस मुकाम पर खड़ी है जहाँ सच्चाई की कीमत सिर्फ और सिर्फ टीआरपी के तराजू पर तौली जाती है। अब खबर वो नहीं है जो समाज के लिए, देश के लिए या इंसानियत के लिए ज़रूरी है। खबर अब वो है जिससे हंगामा खड़ा हो सके, जिससे जज़्बात भड़काए जा सकें और जिससे लोगों के दिलों में नफरत का बीज बोकर मुनाफा कमाया जा सके।

जब आप शाम के वक्त अपने घर के कमरे में टीवी खोलते हैं, तो आपको वहां कोई पत्रकार नहीं दिखता। वहां आपको एक सजी हुई अदालत दिखती है, और स्क्रीन के बीचों-बीच बैठा शख्स कोई रिपोर्टर नहीं, बल्कि खुद को एक खुदा या मुंसिफ समझता है। ये एक ऐसी अदालत है जहाँ फैसला बहस से पहले ही तय होता है, और शोर-शराबा सिर्फ उस फैसले को सही साबित करने का एक भद्दा नाटक होता है। असली पत्रकारिता वो थी जो हुकूमत से सवाल करती थी, जो सत्ता के गलियारों में बैठे ताकतवर लोगों से पूछती थी कि अवाम के हक़ का क्या हुआ? रोज़गार कहाँ है? अस्पताल और स्कूल की हालत खस्ता क्यों है? लेकिन आज के मीडिया ने अपना काम ही पूरी तरह से पलट दिया है। आज का मीडिया सत्ता के दरबार में हाज़िरी लगाता है, उनके कसीदे पढ़ता है, और सवाल उस बेबस अवाम से करता है जो पहले ही अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की जद्दोजहद में पिसी जा रही है।

यह कितनी अजीब और खौफनाक हकीकत है कि जिस चौथे स्तंभ को अवाम की ढाल बनना था, वही आज अवाम की छाती पर तनी हुई एक बंदूक बन गया है। आज के न्यूज़ रूम में महंगाई, बेरोज़गारी, और मुल्क की गिरती अर्थव्यवस्था पर बात करने के लिए वक्त नहीं है। वहां सिर्फ वो मुद्दे उछाले जाते हैं जो समाज को बांट सकें। धर्म, लिबास, अज़ान, खान-पान—इन निहायती निजी और ज़ाती चीज़ों को राष्ट्रीय खतरा बनाकर पेश किया जा रहा है। मीडिया की जगह आज एक ऐसे लाउडस्पीकर की हो गई है जिसका कंट्रोल रूम कहीं और है, और वो सिर्फ वही धुन बजाता है जो उसे बजाने का हुक्म दिया जाता है। इस शोर में इंसानियत की, भाईचारे की और तरक्की की आवाज़ पूरी तरह घोंट दी गई है।

एक वक्त्र था जब मीडिया हुक्मरानों को आईना दिखाता था, आज वो हुक्मरानों का ही आईना बन चुका है, जिसमें सिर्फ वही रंग-बिरंगी तस्वीर नज़र आती है जो वो दिखाना चाहते हैं। जो लोग सच बोलने की ज़ुरत करते हैं, उन्हें या तो खामोश कर दिया जाता है, या फिर उन्हें किनारे लगा दिया जाता है। आज के दौर में निष्पक्ष होना, बीच का रास्ता चुनना या सच के साथ खड़ा होना सबसे बड़ा गुनाह बन गया है। मीडिया घरानों ने खुलेआम अपनी-अपनी वैचारिक सरहदें खींच ली हैं। आप किसी भी चैनल का रंग देखकर बता सकते हैं कि वहां किस तरह का ज़हर परोसा जाएगा। सच के भी अब टुकड़े कर दिए गए हैं और हर कोई अपने हिस्से का, अपनी सहूलियत का सच ऊंची आवाज़ में बेच रहा है।

इस पूरी गिरावट का सबसे बड़ा नुकसान हमारे मुल्क के सामाजिक ताने-बाने को हुआ है। जब लोकतंत्र का एक स्तंभ कमज़ोर पड़ता है, तो सिर्फ छत नहीं गिरती, बल्कि पूरी इमारत डगमगाने लगती है। आज मीडिया समाज में एक पुल का काम नहीं कर रहा, बल्कि वो एक ऐसी दीवार बन गया है जो दो समुदायों, दो भाइयों और दो पड़ोसियों के बीच जान-बूझकर खड़ी कर दी गई है। लोग एक दूसरे के साथ बैठकर बात करने के बजाय, टीवी स्क्रीन पर एक दूसरे के खिलाफ ज़हर उगलते हुए लोगों को देखकर अपने दिलों में राय बना रहे हैं। ज़मीनी हकीकत आज भी मेल-मिलाप की है, लेकिन स्क्रीन पर जो हकीकत गढ़ी जा रही है, उसने लोगों के दिलों में इतना खौफ और शक पैदा कर दिया है कि अब इंसान अपने ही साये से भी खौफ खाने लगा है।

लोकतंत्र में मीडिया की असली जगह एक मंसिफ की तरह थी, जिसे बिना किसी भेदभाव के सिर्फ इंसाफ की बात करनी थी। उसे मजलूम की ढाल बननी थी और हुक्मरान का गुरुर तोड़ना था। लेकिन आज, वह अपनी उस असली जगह से मीलों दूर, एक बहुत ही अंधेरी खाई में आ चुका है। आज वह वहां खड़ा है जहाँ उसके पास आवाज़ तो बहुत ऊंची है, लेकिन उस आवाज़ में कोई रूह नहीं है। उसके पास कैमरे और तस्वीरें तो बहुत चमकदार हैं, लेकिन उन तस्वीरों में कोई सच्चाई नहीं है। वह अब लोकतंत्र का चौथा स्तंभ नहीं रहा, बल्कि एक ऐसी मशीन बन गया है जो दिन-रात सिर्फ और सिर्फ भ्रम, नफरत और खोखला शोर पैदा कर रही है।

और इसी दर्दनाक हकीकत ने एक आम हिंदुस्तानी नागरिक, और खास तौर पर एक हिंदुस्तानी मुसलमान को एक ऐसे चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ उसे अपने ही मुल्क के मीडिया से खौफ आने लगा है। यह खौफ क्यों पैदा हुआ, और कैसे मीडिया ने एक आम मुसलमान की रोज़मर्रा की ज़िंदगी को अपनी इस शोरगुल भरी अदालत में एक मुज़रिम बनाकर पेश किया, यह समझना हमारे लिए सिर्फ एक दिमागी कसरत नहीं, बल्कि वजूद को बचाने की लड़ाई है। क्योंकि अगर हमने आज इस गिरते हुए स्तंभ की हकीकत को नहीं समझा, तो यह सिर्फ किसी एक कौम को नहीं कुचलेगा, बल्कि यह पूरे मुल्क की जम्हूरियत को अपने मलबे तले हमेशा के लिए दफन कर देगा।

एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान का मीडिया से रिश्ता कैसे शक और खौफ में बदल गया?

एक वक्त था जब हमारे घरों की सुबह चाय की प्याली और अखबार की ताज़ा महक के साथ शुरू हुआ करती थी। रेडियो पर बजने वाली खबरें हों या दूरदर्शन की वो शांत और संजीदा आवाज़, खबरों का मतलब सिर्फ मालूमात हासिल करना होता था। उस दौर में जब कोई आम हिंदुस्तानी मुसलमान अखबार उठाता था, तो वो खुद को सिर्फ एक नागरिक महसूस करता था। खबरों में महंगाई की बात होती थी, सियासत की बातें होती थीं, सरहद के हालात होते थे, लेकिन उन खबरों के बीच कोई ऐसी लकीर नहीं खींची जाती थी जो पढ़ने वाले को उसके मज़हब की बिना पर अलग कर दे। मीडिया और एक आम मुसलमान के बीच का रिश्ता बिल्कुल वैसा ही था जैसा मुल्क के किसी भी दूसरे बाशिंदे का होता है—एक भरोसे का रिश्ता, एक एतमाद का रिश्ता। लेकिन फिर आहिस्ता-आहिस्ता हवा का रुख बदलने लगा। यह बदलाव रातों-रात नहीं हुआ। यह एक धीमा ज़हर था जिसे बहुत ही खामोशी और चालाकी से खबरों की रंगों में उतारा गया। एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान, जो अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की जद्दोज़हद में उलझा हुआ था, जो अपने बच्चों की तालीम और मुस्तकबिल के सपने बुन रहा था, उसे इस बात का एहसास ही नहीं हुआ कि कब वो अखबार के पन्नों और टीवी की स्क्रीन पर एक इंसान से महज़ एक ‘मुद्दा’ बन गया।

यह समझना बहुत ज़रूरी है कि यह शक और खौफ किसी एक वाकये से पैदा नहीं हुआ। इसकी शुरुआत उस अजीब सी घुटन से हुई जब हमने अपने ही घर के टीवी स्क्रीन पर खुद को कठघरे में खड़ा पाया। ज़रा उस मंज़र का तसव्वुर कीजिए, जब रात के आठ बजते हैं, पूरा परिवार खाना खाने के लिए एक साथ बैठता है, और टीवी पर न्यूज़ चैनल लगा दिया जाता है। अचानक स्क्रीन पर तेज़ आवाज़ें गूंजने लगती हैं, लाल और काले रंग की खौफनाक पट्टियां चलने लगती हैं, और बहस इस बात पर शुरू हो जाती है कि मुसलमान मुल्क के लिए खतरा क्यों हैं। वो बाप जो दिन भर हिंदू, सिख और ईसाई भाइयों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करके लौटा है, वो अपने बच्चों की नज़रों से नज़रें नहीं मिला पाता। उसे समझ नहीं आता कि वो स्क्रीन पर चीखते हुए एंकर की बातों का क्या जवाब दे। यहीं से उस खौफ ने जन्म लिया, जिसने हमारे ड्राइंग रूम के सुकून को हमेशा के लिए छीन लिया।

टीवी जो कभी मनोरंजन और दुनिया भर की जानकारी का एक छोटा सा खूबसूरत डब्बा हुआ करता था, वो अचानक एक हमलावर बन गया। एक ऐसा हमलावर जो सीधे हमारे ज़हन पर वार कर रहा था। मीडिया ने एक ऐसा नैरेटिव गढ़ना शुरू कर दिया जिसमें हर दाढ़ी वाला शक के दायरे में आ गया, हर टोपी पहनने वाले को अजीब नज़रों से देखा जाने लगा। किसी गली-मोहल्ले में होने वाले एक छोटे से झगड़े को भी सांप्रदायिक रंग देकर पूरे मुल्क की ब्रेकिंग न्यूज़ बना दिया गया। अगर मुज़रिम मुसलमान है, तो उसके जुर्म को पूरे समुदाय के माथे पर चस्पा कर दिया गया। एक आम मुसलमान ने महसूस किया कि मीडिया अब खबरें नहीं दे रहा है, बल्कि वो एकतरफा मुकद्दमा चला रहा है, और सज़ा भी खुद ही मुकर्रर कर रहा है।

इस खौफ के साथ-साथ शक का बीज भी बहुत गहराई तक बोया गया। जब एक आम मुसलमान ने देखा कि टीवी की बहसों में ऐसे-ऐसे लोगों को बुलाकर बिठाया जा रहा है जो लंबी-लंबी दाढ़ियां रखे हुए हैं, अजीब से लिबास पहने हुए हैं, और जो मुसलमानों की नुमाइंदगी करने का दावा कर रहे हैं, तो उसका शक यकीन में बदल गया। क्योंकि ज़मीन का मुसलमान तो उन लोगों को जानता ही नहीं था। वो टीवी वाले 'कथित मौलाना' वो बातें कह रहे थे जिनका एक आम पढ़े-लिखे, समझदार और मुल्क से मोहब्बत करने वाले मुसलमान की सोच से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं था। यह बात शीशे की तरह साफ होने लगी कि न्यूज़ चैनलों ने अपना एक 'नकली मुसलमान' गढ़ लिया है। यह नकली किरदार सिर्फ इसलिए गढ़ा गया ताकि बहुसंख्यक समाज के दिल में उसके लिए नफरत पैदा की जा सके। यह सब एक तयशुदा स्क्रिप्ट का हिस्सा था, और जब अवाम को इस स्क्रिप्ट की भनक लगी, तो मीडिया से रहा-सहा भरोसा भी हमेशा के लिए टूट गया।

आज हालात यह हैं कि एक आम मुसलमान जब कोई खबर देखता है, तो वो उस पर यकीन करने से पहले हज़ार बार सोचता है। उसे शक होता है कि कहीं इस खबर को भी किसी खास मक़सद के तहत तोड़-मरोड़ कर तो पेश नहीं किया जा रहा? अगर किसी शहर में कोई हादसा होता है, तो एक आम मुसलमान की पहली दुआ यही होती है कि या अल्लाह, इसमें किसी मुसलमान का नाम न आ जाए, वरना मीडिया इसे भी एक साज़िश बना देगा। यह वो खौफ है जिसने हमारी नफ़्सीयात (मनोविज्ञान) को अंदर तक झकझोर कर रख दिया है।

हम एक ऐसे दौर में जी रहे हैं जहाँ एक आम मुसलमान को रोज़ाना अपनी देशभक्ति का इम्तिहान देना पड़ता है। सड़क पर चलते हुए, ट्रेन में सफर करते हुए, या किसी नए दफ्तर में नौकरी तलाशते हुए, उसे यह महसूस होता है कि सामने वाले इंसान के ज़हन में मीडिया ने पहले ही उसकी एक खौफनाक तस्वीर बना रखी है। उसे अपनी असलियत साबित करने के लिए उस तस्वीर से लड़ना पड़ता है जो न्यूज़ चैनलों ने महीनों और सालों की मेहनत से गढ़ी है। यह एक ऐसी ना दिखाई देने वाली लड़ाई है जो हर हिंदुस्तानी मुसलमान रोज़ लड़ रहा है। मीडिया ने जिस खौफ को जन्म दिया है, उसका सबसे बड़ा और दर्दनाक असर हमारी नई नस्ल पर पड़ रहा है। हमारे बच्चे जब स्कूल और कॉलेज जाते हैं, तो उनके ज़हन में एक अजीब सी उलझन होती है। वो देखते हैं कि जिस मुल्क की मिट्टी से वो बेपनाह मोहब्बत करते हैं, उसी मुल्क का मीडिया उन्हें एक अजनबी और बाहरी साबित करने पर तुला हुआ है। यह खौफ सिर्फ़ जिस्मानी नहीं है, यह रूहानी खौफ़ है। यह इस बात का खौफ़ है कि कल को अगर कोई भीड़ महज़ एक झूठी खबर की बुनियाद पर उनके खिलाफ़ खड़ी हो गई, तो क्या कोई उन्हें बचाने आएगा? क्या मीडिया सच दिखाएगा, या वो उस भीड़ को ही सही ठहराने के लिए नए तर्क गढ़ेगा? इन सब बातों ने मिलकर एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान और मीडिया के बीच एक ऐसी गहरी खाई खोद दी है जिसे पाटना अब बेहद मुश्किल नज़र आता है। न्यूज़ चैनल अब हमारे लिए खबरों का ज़रिया नहीं रहे, बल्कि वो एक ऐसी मशीन बन गए हैं जो हमारे खिलाफ़ दिन-रात नफरत का ज़हर उगल रही है। हमने अखबारों के पन्ने पलटने बंद नहीं किए हैं, और न ही हमने टीवी देखना छोड़ा है, लेकिन अब हम उन्हें इस खौफ़ और शक के साथ देखते हैं कि आज फिर हमारे वजूद को मिटाने के लिए, हमारी पहचान को दागदार करने के लिए कौन सी नई कहानी बुनी जा रही है।

यह खौफ़ कोई वहम नहीं है, यह वो कड़वी ज़मीनी हकीकत है जिसे हर वो शख्स महसूस कर सकता है जिसका नाम किसी खास मज़हब से जुड़ा है। मीडिया ने अपना काम इतनी बेदर्दी और बेबाकी से किया है कि आज एक आम मुसलमान अपने ही मुल्क में, अपने ही घर की चारदीवारी के अंदर टीवी स्क्रीन से डरने लगा है। और एक लोकतंत्र के लिए, एक आज़ाद मुल्क के लिए, इससे बड़ी नाकामी और कोई नहीं हो सकती कि उसका चौथा स्तंभ अवाम की पनाहगाह बनने के बजाय, उनकी रातों की नींद और दिन का सुकून छीनने वाला एक खौफनाक हथियार बन जाए।

पहला बाब: आईना कैसे धुंधला हुआ? (इतिहास की नज़र से)

आज़ादी के बाद के शुरुआती दशकों में मीडिया और मुसलमान

इतिहास महज़ गुज़रे हुए कल की कहानी नहीं होता, बल्कि वह एक ऐसा आईना होता है जिसमें हम अपने आज की शक्ल देख सकते हैं। जब हम इस बात की तलाश में निकलते हैं कि आज के दौर में हिंदुस्तानी मुसलमान और मीडिया के बीच इतनी गहरी खाई कैसे खुद गई, तो हमें अपनी नज़रें पलटकर उस दौर की तरफ ले जानी होंगी जब यह मुल्क नया-नया आज़ाद हुआ था। यह वो दौर था जब बंटवारे के ज़ख्म बिल्कुल ताज़ा थे। एक तरफ आज़ादी का जश्न था, तो दूसरी तरफ उन लाखों उजड़े हुए घरों का मातम, जिन्होंने सियासत की बिछाई हुई बिसात पर अपना सब कुछ खो दिया था।

साल सैंतालीस के उस खौफनाक बवंडर के बीच, हिंदुस्तान के उन मुसलमानों ने एक बहुत बड़ा और तारीखी फैसला लिया था, जिन्होंने अपना मुल्क छोड़कर जाने से साफ इनकार कर दिया था। यह वो मुसलमान थे जिन्होंने मज़हब के नाम पर बनने वाले एक नए मुल्क को ठुकराकर, उस मिट्टी को चुना जिसमें उनके पुरखों की कब्रें थीं। उन्होंने यह साबित किया था कि उनका रिश्ता इस ज़मीन से किसी भी सियासी सरहद या मज़हबी नारे से कहीं ज़्यादा गहरा है। उस वक्त के मुसलमान के दिल में एक तरफ तो बंटवारे का गहरा दर्द था, लेकिन दूसरी तरफ एक नए, धर्मनिरपेक्ष और आज़ाद हिंदुस्तान की तामीर का जज़्बा भी था।

ऐसे नाज़ुक वक्त में, जब मुल्क अपनी नई पहचान गढ़ रहा था, हमारे मीडिया का, यानी उस दौर की सहाफत (पत्रकारिता) का किरदार कैसा था? आज जब मैं उस दौर के अखबारों के पन्ने पलटता हूँ या अपने बुजुर्गों से उस ज़माने के किस्से सुनता हूँ, तो मुझे एक अजीब सा सुकून और रश्क महसूस होता है। आज़ादी के फौरन बाद के वो शुरुआती दो-तीन दशक हिंदुस्तानी पत्रकारिता का सुनहरा दौर थे। उस वक्त तक मीडिया कोई बाज़ार या मुनाफे की मशीन नहीं बना था। उस दौर में कलम चलाने वाले ज़्यादातर लोग वो थे जिन्होंने आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लिया था, या वो उस लड़ाई के आदर्शों से गहरे तक जुड़े हुए थे। उनके लिए अखबार निकालना कोई व्यापार नहीं, बल्कि एक मिशन था।

उस दौर के मीडिया में एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान की तस्वीर बिल्कुल वैसी ही थी, जैसी एक आम हिंदू, सिख या ईसाई की। अखबारों के पन्नों पर मुसलमानों को किसी अलग चश्मे से नहीं देखा जाता था। वो मुल्क की तामीर में बराबर के हिस्सेदार थे। उस वक्त की खबरों में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की तालीमी पॉलिसियों पर बहस होती थी, डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन की दानिशमंदी के किस्से छपते थे, और उस्ताद बिस्मिल्लाह खान की शहनाई की गूंज को पूरे मुल्क की रूहानी आवाज़ माना जाता था। मीडिया ने कभी इन शख्सियतों को उनके मज़हब के सांचे में कैद करने की कोशिश नहीं की। ये लोग मुसलमान बाद में थे, पहले ये इस अज़ीम मुल्क के अज़ीम बाशिंदे थे।

उस वक्त का आईना कितना साफ था, इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि मीडिया में गंगा-जमुनी तहज़ीब सिर्फ एक लफ़्ज़ नहीं, बल्कि जीने का एक तरीका था। रेडियो पर जब खबरें पढ़ी जाती थीं या जब कोई मुशायरा नश्र होता था, तो उसकी ज़बान में वो मिठास और अदब होता था जो दिलों को जोड़ता था। अखबारों में छपने वाले मज़मून हों या रेडियो के प्रोग्राम, हर जगह एक मिली-जुली संस्कृति की झलक मिलती थी। अगर कोई मुसलमान किसी खेल में मुल्क का नाम रोशन करता, या सरहद पर लड़ते हुए अपनी जान कुर्बान करता (जैसे वीर अब्दुल हमीद), तो मीडिया उसे पूरे फख्र के साथ मुल्क का हीरो बनाता था। तब किसी की देशभक्ति साबित करने के लिए उससे चीख-चीख कर सवाल नहीं पूछे जाते थे। तब खून का रंग सिर्फ लाल होता था, उसे हिंदू या मुसलमान के खानों में नहीं बांटा जाता था।

उस दौर की पत्रकारिता की एक और बहुत बड़ी खूबी उसकी संजीदगी और ज़िम्मेदारी थी। ऐसा नहीं था कि साठ और सत्तर के दशक में इस मुल्क में दंगे नहीं हुए। जबलपुर से लेकर भिवंडी तक, कई बार नफरत की आग भड़की। लेकिन उस वक्त के मीडिया का रवैया आज से बिल्कुल अलग था। जब भी कोई सांप्रदायिक तनाव होता, तो अखबारों के संपादक बहुत ही नाप-तौल कर अलफ़ाज़ का चुनाव करते थे। अक्सर खबरों में सीधे तौर पर हिंदू या मुसलमान लफ़्ज़ का इस्तेमाल करने से बचा जाता था। लिखा जाता था कि “दो गुटों के बीच झड़प हुई” या “दो समुदायों के बीच तनाव पैदा हो गया”। यह कोई सच छुपाने की कोशिश नहीं थी, बल्कि यह उस ज़िम्मेदारी का एहसास था कि कहीं अखबार में छपा कोई एक लफ़्ज़, किसी दूसरे शहर में नफरत की नई आग ना भड़का दे।

उस वक्त के संपादक यह अच्छी तरह जानते थे कि उनकी कलम से निकली हुई स्याही समाज में मरहम का काम भी कर सकती है और तेज़ाब का भी। इसलिए वो हमेशा मरहम को चुनते थे। किसी भी फसाद के बाद मीडिया का ज़ोर इस बात पर होता था कि कैसे अमन कायम किया जाए, कैसे मोहल्लों में शांति समितियां बनाई जाएं और कैसे दोनों कौमों के अक्लमंद और ज़िम्मेदार लोगों को एक साथ बिठाकर बातचीत का रास्ता निकाला जाए। आज की तरह ऐसा कभी नहीं होता था कि अखबार या रेडियो खुद ही आग लगाने वाले का काम करने लगे और बहुसंख्यक समाज को अल्पसंख्यक समाज के खिलाफ भड़काने लगे। एक और पहलू जिस पर बात करना बहुत ज़रूरी है, वो है उर्दू सहाफ़त का किरदार। आज़ादी के बाद के शुरुआती सालों में उर्दू सिर्फ़ मुसलमानों की ज़बान नहीं थी। उत्तर भारत के तमाम शहरों में बहुत से गैर-मुस्लिम भी उर्दू के अखबार उतनी ही दिलचस्पी से पढ़ते थे जितने मुसलमान। मिलाप, प्रताप और तेज़ जैसे अखबार इसके ज़िंदा सुबूत थे। उर्दू मीडिया ने भी उस दौर में मुसलमानों को मुल्क की मुख्यधारा से जोड़े रखने में एक बड़ा पुल बनने का काम किया। इन अखबारों ने बंटवारे की मायूसी से निकालकर कौम को तालीम, कारोबार और नए हिंदुस्तान की तामीर में हिस्सा लेने का हौसला दिया।

लेकिन, जैसा कि हर उरूज (शिखर) के बाद ज़वाल (पतन) की शुरुआत होती है, यह खूबसूरत तस्वीर हमेशा एक जैसी नहीं रही। सत्तर का दशक खत्म होते-होते और अस्सी के दशक की शुरुआत में, सियासत का रंग बदलने लगा। और सियासत के इस बदलते रंग की सबसे पहली परछाई हमारे मुल्क के मीडिया पर पड़ी। वो पीढ़ी जिसने आज़ादी की लड़ाई देखी थी, वो आहिस्ता-आहिस्ता न्यूज़ रूम से विदा हो रही थी। उनकी जगह वो लोग ले रहे थे जिनके लिए पत्रकारिता कोई जज़्बा या मिशन नहीं, बल्कि एक पेशा और सियासतदानों के करीब जाने का एक ज़रिया था।

इसी दौर में एक बहुत ही खामोश लेकिन खतरनाक बदलाव हुआ। उर्दू ज़बान, जो कभी पूरे उत्तर भारत के बाज़ार और दफ्तरों की ज़बान हुआ करती थी, उसे एक साज़िश के तहत सिर्फ़ मुसलमानों और मदरसों की ज़बान बनाकर किनारे कर दिया गया। जब ज़बान सिकुड़ गई, तो उस ज़बान को पढ़ने और समझने वाला तबका भी मुल्क की मुख्यधारा के मीडिया से थोड़ा कटने लगा।

हिंदी अखबारों ने तेज़ी से अपनी जगह बनाई और धीरे-धीरे इन अखबारों के न्यूज़ रूम में मुसलमानों की मौजूदगी कम होने लगी। जब न्यूज़ रूम में आपके अपने लोग नहीं होते, तो आपकी कहानी सुनाने का अंदाज़ भी बदल जाता है।

आज़ादी के बाद के उन तीस-पैंतीस सालों ने एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान को यह यकीन दिलाया था कि यह मुल्क उसका घर है और मीडिया इस घर की हिफाज़त करने वाला एक सच्चा पहरेदार। उस वक्त का मुसलमान अखबार पढ़ता था तो उसे अपना मुस्तकबिल महफूज़ लगता था। उसे लगता था कि अगर उसके साथ कोई ज़्यादती होगी, तो यह चौथा स्तंभ उसकी ढाल बनकर खड़ा हो जाएगा। लेकिन उसे इस बात का बिल्कुल अंदाज़ा नहीं था कि सियासत की कोख में एक ऐसी नफरत पल रही है जो आने वाले दशकों में इस पूरे आईने को ऐसा धुंधला कर देगी कि उसमें उसे अपनी ही शक्ल एक मुज़रिम, एक घुसपैठिए और एक गैर की तरह दिखाई देने लगेगी।

वो शुरुआती दशक इस बात की गवाही देते हैं कि बीमारी हमारे मुल्क की मिट्टी में नहीं थी, बल्कि बीमारी उस निज़ाम में पैदा हुई जिसने बाद के बरसों में अपने फायदे के लिए इस मिट्टी में नफरत का ज़हर बोया। वो दौर हमें याद दिलाता है कि एक वक्त था जब हम सब सिर्फ़ इंसान थे, सिर्फ़ हिंदुस्तानी थे। और यही वो हकीकत है जिसे आज का मीडिया, अपने शोर और टीआरपी की भूख में, हमेशा के लिए दफन कर देना चाहता है। हमें उस धुंधले हो चुके आईने को साफ़ करने के लिए इतिहास के इन पन्नों को बार-बार पढ़ना होगा, ताकि हम आने वाली नस्लों को बता सकें कि हम वो नहीं हैं जो आज हमें टीवी स्क्रीन पर दिखाया जा रहा है, बल्कि हम वो हैं जिन्होंने इस मुल्क को अपने खून-पसीने से सींचा है।

बाबरी मस्जिद विध्वंस से लेकर 9/11 तक: नैरेटिव में कैसे एक बड़ा शिफ्ट आया?

इतिहास के पन्नों में कुछ तारीखें ऐसी होती हैं जो सिर्फ कैलेंडर का हिस्सा नहीं होतीं, बल्कि वो किसी मुल्क की रूह पर लगे ऐसे गहरे ज़ख्म बन जाती हैं जिनकी टीस दशकों तक महसूस की जाती है। हिंदुस्तानी मुसलमानों और मीडिया के रिश्ते की बात करें, तो अस्सी के दशक के आखिर और नब्बे के दशक की शुरुआत में एक ऐसा बवंडर उठा जिसने सब कुछ हमेशा के लिए बदल कर रख दिया। यह वो दौर था जब सियासत ने अवाम के जज़्बातों से खेलने का एक नया और खौफनाक तरीका ईजाद किया था, और अफसोस की बात यह रही कि हमारे लोकतंत्र का चौथा स्तंभ, जिसे इस आग को बुझाना था, वह खुद कई जगह इस आग में घी डालने का काम करने लगा।

जब हम इस बात पर गौर करते हैं कि मीडिया के नैरेटिव यानी उसके नज़रिये में सबसे बड़ा बदलाव कब और कैसे आया, तो हमें छह दिसंबर उन्नीस सौ बानवे (1992) के उस मनहूस दिन की तरफ लौटना पड़ता है। बाबरी मस्जिद का गिरना सिर्फ एक इमारत का ज़मींदोज़ होना नहीं था, बल्कि यह एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान के उस भरोसे का भी टूट जाना था जो उसने अपने मुल्क के निज़ाम और उसके मीडिया पर कर रखा था। उस दौर में, खासकर उत्तर भारत के कई हिंदी अखबारों ने जो भूमिका निभाई, उसने पत्रकारिता की बुनियाद को हिला कर रख दिया। रथ यात्राओं के दौर से ही कुछ क्षेत्रीय अखबारों ने जिस तरह की भड़काऊ और जज़्बाती ज़बान का इस्तेमाल शुरू किया, उसने समाज में ज़हर घोलने का काम किया। खबरों की जगह अफवाहों ने ले ली। अखबारों के पन्नों पर ऐसी-ऐसी सुर्खियां छपने लगीं जिनका ज़मीनी हकीकत से कोई लेना-देना नहीं था, लेकिन वो बहुसंख्यक समाज के ज़हन में खौफ और नफरत पैदा करने के लिए काफी थीं। जिन अखबारों को लोग कभी सच का आईना मानते थे, वो अचानक किसी एक खास विचारधारा के लाउडस्पीकर बन गए। उस वक्त एक आम मुसलमान जब सुबह उठकर अपना अखबार पढ़ता था, तो उसे पन्नों पर खबरों की स्याही नहीं, बल्कि अपने खिलाफ रची जा रही एक गहरी साज़िश की बू आती थी। उसे लगने लगा था कि उसकी आवाज़, उसका दर्द और उसका नज़रिया अब इन अखबारों के लिए कोई मायने नहीं रखता।

बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बाद देश भर में जो दंगे हुए, और उसके बाद मुंबई में जो सिलसिलेवार बम धमाके हुए, उसने मीडिया को अपना नैरेटिव पूरी तरह से बदलने का एक मुकम्मल मौका दे दिया। यहीं से एक बहुत बड़ा शिफ्ट आया। मीडिया ने एक बहुत ही चालाकी भरा खेल शुरू किया—उसने चंद मुजरिमों या आतंकवादियों के गुनाहों का बोझ पूरे के पूरे मुस्लिम समाज के कंधों पर डाल दिया। दाऊद इब्राहिम या उसके गुर्गों के काले कारनामों की खबरों को इस तरह से पेश किया जाने लगा जैसे हर मुसलमान किसी ना किसी अंडरवर्ल्ड या राष्ट्रविरोधी गतिविधि का हिस्सा हो। जो मुसलमान कल तक एक आम नागरिक था, वो अचानक से मीडिया की नज़रों में ‘संदिग्ध’ बन गया। यह नब्बे का वही दशक था जब हिंदुस्तान में एक और बहुत बड़ा बदलाव हो रहा था। प्रिंट मीडिया यानी अखबारों के साथ-साथ अब सैटेलाइट टेलीविजन यानी चौबीस घंटे चलने वाले न्यूज़ चैनलों का दौर शुरू हो चुका था। पहले खबरें दिन में एक या दो बार आती थीं, लेकिन अब टीवी स्क्रीन पर हर पल कुछ नया, कुछ सनसनीखेज़ दिखाने की होड़ मच गई। इन न्यूज़ चैनलों को अपनी टीआरपी बढ़ाने के लिए एक ऐसे ‘विलेन’ की तलाश थी जिसे दिखाकर वो अवाम को स्क्रीन से बांधे रख सकें। और सियासत के बिछाए हुए जाल ने मीडिया को वो विलेन एक आम मुसलमान के रूप में थाली में सजाकर दे दिया।

टेलीविज़न के आने से नैरेटिव में जो शिफ्ट आया, वो विज़ुअल यानी तस्वीरों का था। अब सिर्फ लफ्ज़ नहीं थे, बल्कि खौफनाक आवाज़ें और डराने वाली तस्वीरें थीं। जब भी आतंकवाद या जुर्म की कोई खबर आती, तो बैकग्राउंड में अज़ान की आवाज़ लगा दी जाती, या किसी टोपी पहने, दाढ़ी वाले शख्स की तस्वीर स्क्रीन पर फ्लैश कर दी जाती। यह कोई इत्तेफाक नहीं था, यह समाज के अवचेतन मन को इस बात के लिए तैयार करने की साज़िश थी कि जब भी वो किसी मुसलमान को देखें, तो उनके ज़हन में सबसे पहला खयाल खौफ का ही आए। और फिर, इस आग को जो सबसे बड़ी हवा मिली, वो सरहदों के पार से आई। साल दो हज़ार एक (2001) का ग्यारह सितंबर, जिसे पूरी दुनिया 9/11 के नाम से जानती है। अमेरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हुए उस खौफनाक आतंकी हमले ने पूरी दुनिया का इतिहास बदल दिया। उस दिन अमेरिका में जो इमारतें गिरीं, उनके मलबे ने पूरी दुनिया के मुसलमानों की पहचान को हमेशा के लिए एक गहरे शक के नीचे दफन कर दिया। पश्चिमी देशों के मीडिया ने रातों-रात एक नया शब्द गढ़ लिया—‘इस्लामोफोबिया’।

पूरी दुनिया में इस्लाम और आतंकवाद को एक दूसरे का पर्यायवाची बना दिया गया। हमारे हिंदुस्तानी मीडिया के लिए यह किसी मुंहमांगी मुराद के पूरे होने जैसा था। भारतीय न्यूज़ रूम्स ने बिना सोचे-समझे, पश्चिमी मीडिया के इस नैरेटिव को ज्यों का त्यों कॉपी कर लिया और उसे हिंदुस्तानी मुसलमानों पर चस्पा कर दिया। 9/11 से पहले, हिंदुस्तानी मुसलमानों को मीडिया अक्सर भारत-पाकिस्तान के बंटवारे, कश्मीर या बाबरी मस्जिद के चश्मे से देखता था। लेकिन 9/11 के बाद, यह चश्मा पूरी तरह से बदल गया। अब हिंदुस्तानी मुसलमान को ग्लोबल आतंकवाद (वैश्विक आतंकवाद) के हिस्से के तौर पर देखा जाने लगा। यह वो वक्त था जब एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान की बेबसी अपनी इंतेहा पर पहुँच गई। अमेरिका में ओसामा बिन लादेन कोई जुर्म करता, और सज़ा हिंदुस्तान के किसी छोटे से गांव में रहने वाले उस मुसलमान को भुगतनी पड़ती जिसने कभी अपने ज़िले की सरहद भी पार नहीं की थी। मीडिया ने ग्लोबल आतंकवाद की शक्ति को लोकल मोहल्लों तक पहुँचा दिया। हर दाढ़ी वाला, हर हिजाब पहनने वाली औरत, अचानक से एक ग्लोबल खतरे का हिस्सा नज़र आने लगे। टीवी चैनलों पर रोज़ रात को जो अदालत सजती थी, उसमें अब सिर्फ़ मुल्क के अंदर के मसले नहीं होते थे, बल्कि पूरी दुनिया में कहीं भी कोई आतंकी घटना होती, तो हिंदुस्तान के मुसलमानों से जवाब मांगा जाने लगा।

एक आम मुसलमान के लिए यह कितनी बड़ी ज़हनी जद्दोज़हद थी, इसका अंदाज़ा कोई और नहीं लगा सकता। आप अपने ही देश में बैठे हैं, आप अपने काम से काम रख रहे हैं, मुल्क के कानून को मान रहे हैं, लेकिन जब आप टीवी खोलते हैं तो आपको महसूस होता है कि पूरी दुनिया आपके खिलाफ़ खड़ी है। आपको रोज़ाना चीख-चीख कर यह साबित करना पड़ रहा है कि आप आतंकवादी नहीं हैं। मीडिया ने उस ज़माने में ‘जिहाद’, ‘मदरसा’ और ‘फतवा’ जैसे शब्दों को इस तरह से तोड़ा-मरोड़ा कि आम अवाम के लिए इन लफ्ज़ों का मतलब सिर्फ़ और सिर्फ़ खून-खराबा और दहशतगर्दी रह गया। 9/11 के बाद के नैरेटिव शिफ्ट ने सबसे बड़ा नुकसान यह किया कि उसने हिंदुस्तानी मुसलमान की ‘आम इंसान’ वाली पहचान को पूरी तरह से मिटा दिया। टीवी की स्क्रीन से वो मुसलमान गायब हो गया जो एक डॉक्टर था, जो किसी दफ्तर में क्लर्क था, या जो किसी चौराहे पर पंचर बनाता था। उसकी जगह एक ऐसे खूंखार और कट्टरपंथी किरदार ने ले ली, जिसे सिर्फ़ इसलिए गढ़ा गया था ताकि बाकी समाज उससे नफरत कर सके और न्यूज़ चैनलों की दुकान चलती रहे।

बाबरी मस्जिद के विध्वंस ने अगर हमारे और मीडिया के बीच के भरोसे में दरार डाली थी, तो 9/11 के बाद गढ़े गए नैरेटिव ने उस दरार को एक ऐसी गहरी खाई में तब्दील कर दिया, जिसमें आज भी हमारी पहचान, हमारी देशभक्ति और हमारी इंसानियत रोज़ाना गिरकर दम तोड़ती है। यह सिर्फ़ खबरों के पेश करने के तरीके का बदलाव नहीं था, यह एक पूरी कौम की रूह को छलनी करने और उन्हें उनके ही मुल्क में अजनबी बना देने का एक बहुत ही सर्द और सोची-समझी साज़िश का हिस्सा था, जिसका ज़हर आज भी हमारे समाज की रगों में दौड़ रहा है।

‘इस्लामोफोबिया’ का भारत के न्यूज़ रूम में प्रवेश

बात जब इस्लामोफोबिया की आती है, तो बहुत से लोगों को लगता है कि यह कोई विदेशी बीमारी है। और एक हद तक यह सच भी है। हिंदुस्तान जैसे मुल्क में, जहां अज्ञान की आवाज़ और मंदिरों की घंटियां सदियों से एक साथ हवा में गूंजती रही हैं, वहां किसी एक मज़हब से इस कदर खौफ खाना हमारी मिट्टी की फितरत नहीं थी। हमारे यहां मतभेद ज़रूर थे, दंगे भी हुए, सियासत ने हमें बांटा भी, लेकिन एक आम इंसान के ज़हन में अपने मुस्लिम पड़ोसी को लेकर कोई ऐसा खौफ नहीं था कि उसे देखकर जान का या मुल्क का खतरा महसूस होने लगे। तो फिर यह अजीब और खौफनाक नफरत हमारे घरों के ड्राइंग रूम तक कैसे पहुंची? इसका बहुत ही सीधा और कड़वा जवाब है—हमारे न्यूज़ रूम के ज़रिए। जैसे ही दुनिया नई सदी में दाखिल हुई, बहुत कुछ बदल रहा था। दो हज़ार एक में अमेरिका पर हुए आतंकी हमले ने पूरी दुनिया की नफ़्सियात को बदल कर रख दिया। पश्चिमी देशों ने अपनी नाकामी छुपाने और एक नया दुश्मन गढ़ने के लिए इस्लामोफोबिया का आविष्कार किया। वहां के मीडिया ने बहुत ही चालाकी से इस्लाम और आतंकवाद को एक ही तराजू में तौल दिया। यह एक विदेशी साज़िश थी, जिसका हमारे मुल्क की ज़मीनी हकीकत से कोई लेना-देना नहीं था। लेकिन हमारे हिंदुस्तानी न्यूज़ रूम, जो उस वक्त टीआरपी की अंधी दौड़ में नए-नए शामिल हुए थे, उन्होंने बिना सोचे-समझे और महज़ अपने मुनाफे के लिए इस विदेशी नैरेटिव को आयात कर लिया। यहीं से भारतीय पत्रकारिता के पतन और एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान की बर्बादी का वो नया अध्याय शुरू हुआ, जिसे आज हम रोज़ अपनी स्क्रीन पर देखते हैं।

एक वक्त था जब हमारे न्यूज़ रूम में ऐसे लोग बैठते थे जो समाज की नब्ज़ पहचानते थे, जो गंगा-जमुनी तहज़ीब की कद्र करते थे। वो जानते थे कि उनके एक गलत शब्द से मुल्क में आग लग सकती है। लेकिन नई सदी के साथ, न्यूज़ रूम का मिज़ाज कॉर्पोरेट हो गया। पुराने और संजीदा पत्रकारों की जगह ऐसे एंकरों ने ले ली जिन्हें खबर की गहराई से कोई मतलब नहीं था, बल्कि उनका इकलौता मकसद स्क्रीन पर हंगामा खड़ा करना था। अब वहां खबर की अहमियत उसकी सच्चाई से नहीं, बल्कि इस बात से तय होने लगी कि वो खबर बहुसंख्यक समाज को कितना डरा सकती है। क्योंकि भारतीय न्यूज़ रूम ने बाज़ार का एक नया और खौफनाक उसूल अपना लिया था—जो डराता है, वही बिकता है।

इस्लामोफोबिया को भारत के न्यूज़ रूम में दाखिल करने के लिए सबसे पहले हमारी ज़बान का कत्ल किया गया। न्यूज़ रूम में बैठे सूट-बूट वाले एंकरों ने हमारी रोज़मर्रा की ज़बान से कुछ इस्लामी लफ़्ज़ चुराए और उन्हें खौफनाक हथियारों में तब्दील कर दिया। ‘जिहाद’, जो कि बुनियादी तौर पर अपने अंदर की बुराइयों से लड़ने का एक निहायत ही पाक जज़्बा है, उसे न्यूज़ चैनलों ने चीख-चीख कर खून-खराबे का पर्याय बना दिया। ‘मदरसा’, जहां किसी गरीब का बच्चा अपनी बुनियादी तालीम हासिल करता है, उसे आतंकवाद की नर्सरी बताया जाने लगा। ‘फतवा’, जो महज़ किसी धार्मिक मामले में एक राय या सलाह है, उसे स्क्रीन पर ऐसा खौफनाक फरमान बनाकर पेश किया गया जैसे यह मुल्क के कानून के खिलाफ कोई खुली बगावत हो। इन लफ़्ज़ों को स्क्रीन पर इतनी बार, इतनी खौफनाक आवाज़ों में और इतने भयानक लाल-काले ग्राफिक्स के साथ बोला गया कि एक आम गैर-मुस्लिम नागरिक के ज़हन में ये शब्द सीधे तौर पर खतरे की घंटी बजने लगे। न्यूज़ रूम ने बड़ी ही चालाकी से एक ऐसा डिवशनी तैयार कर दिया जिसमें मुसलमान से जुड़ी हर चीज़ का मतलब सिर्फ और सिर्फ मुल्क के लिए खतरा था।

यह साज़िश सिर्फ लफ़्ज़ों तक महदूद नहीं रही। न्यूज़ रूम ने इस इस्लामोफोबिया को विज़ुअल यानी तस्वीरों के ज़रिए लोगों के अवचेतन मन में और भी गहरा उतार दिया। टीवी एक विज़ुअल माध्यम है, और जो दिखता है, वही इंसान के ज़हन में छप जाता है। न्यूज़ चैनलों ने एक अघोषित नियम बना लिया कि जब भी कोई बुरी खबर होगी, कोई आतंकी घटना होगी, या मुल्क की सुरक्षा पर कोई बहस होगी, तो स्क्रीन के बैकग्राउंड में एक खास लिबास पहने हुए, दाढ़ी वाले और टोपी लगाए लोगों की भीड़ दिखाई जाएगी। हरे रंग को इस तरह से पेश किया जाने लगा जैसे वो किसी दुश्मन का रंग हो। आप खुद सोचिए, जब तेज़ और डरावने बैकग्राउंड म्यूज़िक के साथ ये तस्वीरें हर रोज़, हर शाम करोड़ों घरों में पहुंचीं, तो इसका क्या असर हुआ होगा? बहुसंख्यक समाज के एक बड़े हिस्से के ज़हन में एक खास शक्ल को लेकर एक अनजाना सा खौफ और नफरत बैठ गई। न्यूज़ रूम ने अपने वातानुकूलित स्टूडियो में बैठकर जो ज़हर उगला, उसने ज़मीन पर उस मुसलमान की ज़िंदगी अज़ाब कर दी जो किसी क्लीनिक में बैठकर मरीज़ों को दवा दे रहा था, जो किसी दफ्तर में फाइलें निपटा रहा था, या जो सड़क किनारे अपनी छोटी सी दुकान चलाकर अपने परिवार का पेट पाल रहा था। एक पढ़ा-लिखा डॉक्टर हो, फार्मासिस्ट हो, या एक अनपढ़ मज़दूर—न्यूज़ रूम के इस नए चश्मे ने सबको एक ही लाइन में खड़ा कर दिया।

इस इस्लामोफोबिया ने न्यूज़ रूम को खबरें बताने की जगह से एक अदालत में तब्दील कर दिया। और इस अदालत का मुंसिफ वो एंकर बन गया जिसके कानों में सिर्फ टीआरपी की मशीन की आवाज़ गूंजती है। रोज़ शाम को एक अजीब सा ट्रायल शुरू होता है, जहां कुछ ऐसे चेहरे स्क्रीन पर बिठा लिए जाते हैं जो मुसलमानों की नुमाइंदगी के नाम पर सिर्फ भड़काने का काम करते हैं। एंकर चीखता है, सवाल ऐसे पूछता है जिनमें पहले से ही इल्ज़ाम छुपा होता है, और फिर खुद ही फैसला सुना देता है।

भारत के न्यूज़ रूम में इस्लामोफोबिया का प्रवेश कोई हादसा नहीं था, यह एक बहुत ही सोची-समझी और ठंडे दिमाग से रची गई साज़िश थी। इसके ज़रिए हमारे लोकतंत्र के चौथे स्तंभ ने अपना सबसे बुनियादी और पवित्र काम छोड़ दिया। उसने अवाम को सच बताने और उन्हें जोड़ने के बजाय, एक पूरे समुदाय को शक के कटघरे में खड़ा कर दिया। न्यूज़ रूम ने बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के बीच एक ऐसी ऊंची और न दिखाई देने वाली दीवार खड़ी कर दी, जिसकी बुनियाद पूरी तरह से इस्लामोफोबिया की ईंटों से रखी गई थी। और सबसे बड़ा दुख यह है कि इस दीवार के पीछे, एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान की वो आवाज़ हमेशा के लिए दफन कर दी गई, जो चीख-चीख कर कह रही थी कि मैं भी इसी मिट्टी का हिस्सा हूँ, मेरा भी इस मुल्क पर उतना ही हक है, जितना तुम्हारा। न्यूज़ रूम में घुसे इस इस्लामोफोबिया ने सिर्फ मुसलमान का नुकसान नहीं किया, इसने हमारे पूरे समाज की रूह को बीमार कर दिया है। और जब तक हम न्यूज़ चैनलों की इस साज़िश को नहीं समझेंगे, तब तक हमारे घरों के ड्राइंग रूम से यह खौफ और नफरत कभी बाहर नहीं निकल पाएगी।

दूसरा बाब: पर्दे का मुसलमान – सिनेमा और स्टीरियोटाइप

बॉलीवुड और पॉप कल्चर में मुसलमानों की छवि

अंधेरे सिनेमा हॉल में जब एक बड़ी सी स्क्रीन पर रोशनी पड़ती है, तो वह महज़ एक फिल्म नहीं होती, बल्कि वह एक ऐसा तिलिस्म होता है जो खामोशी से हमारे ज़हन में उतर जाता है। सिनेमा और पॉप कल्चर सिर्फ मनोरंजन का ज़रिया नहीं हैं। यह वो ताकतवर हथियार हैं जो समाज की सोच गढ़ते हैं, लोगों के दिलो-दिमाग पर कब्ज़ा करते हैं और यह तय करते हैं कि कौन सी कौम किस नज़र से देखी जाएगी। अगर हम इस बात की पड़ताल करें कि हिंदुस्तान में एक आम मुसलमान की शक्ल को ज़मीन से उठाकर शक के कटघरे में कैसे खड़ा किया गया, तो हमें न्यूज़ चैनलों के साथ-साथ बॉलीवुड के उस तिलिस्मी पर्दे का भी हिसाब करना होगा, जिसने दशकों तक हमारा एक ऐसा नकली और बनावटी अव्स पेश किया, जिसका हकीकत से कोई वास्ता नहीं था।

जब हम बॉलीवुड के शुरुआती दौर पर नज़र डालते हैं, तो हमें पर्दे पर मुसलमान नज़र तो आता है, लेकिन वो उस आम मुसलमान से बिल्कुल अलग होता है जो आपके और हमारे पड़ोस में रहता है। साठ और सत्तर के दशक में हिंदी सिनेमा ने मुसलमानों को एक खास सांचे में कैद कर दिया था, जिसे अक्सर मुस्लिम सोशल कहा जाता था। उस दौर की फिल्मों में मुसलमान का मतलब या तो कोई शेर-ओ-शायरी करने वाला नवाब होता था, या फिर मुशायरों की महफिल सजाने वाला कोई रईस। अगर कैमरे का रुख थोड़ा बदलता, तो वो पान चबाते हुए किसी किरदार या फिर कोठों पर नाचती तवायफों की ज़िंदगी तक महदूद रह जाता। पर्दे पर दिखने वाला यह मुसलमान बहुत खूबसूरत था, उसकी ज़बान में नज़ाकत थी, उसके कपड़ों में कसीदाकारी थी, लेकिन वो उस मुसलमान से कोसों दूर था जो आज़ाद हिंदुस्तान में अपनी रोज़ी-रोटी, तालीम और वजूद की जद्दोज़हद लड़ रहा था। सिनेमा ने बहुत ही खामोशी से मुसलमान को एक ऐसे शोपीस में तब्दील कर दिया, जो सिर्फ गज़लें गाने या कव्वाली सुनाने के काम आता था। एक आम पढ़ा-लिखा मुसलमान, जो दफ्तर जाता हो, जो साइंस पढ़ता हो, या जो अपने मुस्तकबिल की फिक्र में हो, उसे उसी दौर में पर्दे से बाहर कर दिया गया था। जैसे-जैसे वक्त बदला और सिनेमा अस्सी और नब्बे के दशक में दाखिल हुआ, पर्दे के इस मुसलमान की शक्ल ने एक नया और खतरनाक मोड़ लिया।

अब नवाबों की हवेलियां टूट चुकी थीं और उनकी जगह मुंबई के अंडरवर्ल्ड और मायानगरी की काली दुनिया ने ले ली थी। इसी दौर में सिनेमा ने मुसलमानों के लिए दो निहायत ही अलग और अजीब सांचे तैयार किए। एक तरफ था वो मुसलमान जो आंखों में सुरमा लगाए, गले में तावीज़ बांधे, और रुमाल लपेटे किसी काले धंधे या स्मगलिंग का सरगना होता था। उसे खूंखार, ज़ालिम और कानून को ना मानने वाले एक विलेन के तौर पर पेश किया गया। दूसरी तरफ एक और किरदार गढ़ा गया, जो था तो बहुत अच्छा, लेकिन वो हमेशा हीरो के लिए अपनी जान कुर्बान करने को तैयार रहता था। यह वो वफादार मैकेनिक, कसाई या दर्ज़ी होता था, जिसे अपनी कोई फिक्र नहीं होती थी। आप खुद सोचिए, एक पूरे के पूरे समाज को सिर्फ दो हिस्सों में बांट दिया गया—या तो तुम एक खूंखार गैंगेस्टर हो, या फिर एक अनपढ़ लेकिन वफादार दोस्त। इस बंटवारे ने समाज के अवचेतन मन में यह बात बैठा दी कि एक मुसलमान कभी भी उस कुर्सी पर नहीं बैठ सकता जहां फैसले लिए जाते हैं। वो कभी हीरो के बराबर नहीं खड़ा हो सकता। उसे हमेशा या तो हीरो से मार खानी है, या हीरो के पैरों में गिरकर अपनी वफादारी साबित करनी है। पॉप कल्चर ने हमारे लिबास, हमारी इबादत के तरीकों और हमारी पहचान को एक खास रंग दे दिया।

अगर किसी फिल्म में कोई किरदार नमाज़ पढ़ रहा है या उसके हाथ में तस्बीह है, तो देखने वाले दर्शक का दिमाग अपने आप यह सोचने लगता था कि यह इंसान फिल्म में आगे चलकर कोई ना कोई गैर-कानूनी काम ज़रूर करेगा। इबादत जैसी मुकद्दस चीज़ को पर्दे पर जुर्म के साथ जोड़ दिया गया। और फिर नई सदी आई, जिसने पूरी दुनिया का नज़रिया बदल दिया। सिनेमा के पर्दे पर अब अंडरवर्ल्ड की जगह ग्लोबल आतंकवाद ने ले ली। बॉलीवुड और पॉप कल्चर ने इस नए बाज़ार को दोनों हाथों से लपका। अब फिल्मों की कहानी सरहदों, स्लीपर सेल और दहशतगर्दी के इर्द-गिर्द घूमने लगी। इस नए सिनेमा ने एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान का सबसे बड़ा नुकसान किया। अब पर्दे पर अगर कोई मुस्लिम किरदार आता, तो उसकी देशभक्ति हमेशा शक के दायरे में होती थी। फिल्मों में एक नया ट्रेंड शुरू हुआ—‘गुड मुस्लिम और बैड मुस्लिम’ का। गुड मुस्लिम वो होता था जो अपने मज़हब से दूरी बनाकर रखता था, जो हर पल मुल्क के लिए अपनी जान देने की कसमें खाता था, और जिसे अपनी वफादारी साबित करने के लिए अपने ही समुदाय के लोगों यानी बैड मुस्लिम को गोली मारनी पड़ती थी।

बैड मुस्लिम वो था जो दाढ़ी रखता था, टोपी पहनता था और मज़हब के नाम पर बम फोड़ता था। इस नैरेटिव ने समाज में यह ज़हर घोल दिया कि अगर कोई मुसलमान अपने मज़हब पर चल रहा है, तो वो यकीनन खतरनाक है, और अगर वो अच्छा इंसान है, तो उसे अपनी मुसलमान वाली पहचान को छुपाकर या मिटाकर रहना होगा। आज वेब सीरीज़ और पॉप कल्चर का दौर है, जहां गालियों और हिंसा की कोई बंदिश नहीं है। इन सीरीज़ में आप गौर करें, तो पाएंगे कि जब भी किसी क्रूर, जाहिल या खूंखार किरदार को दिखाना होता है, तो उसके मुंह में उर्दू के लफ्ज़ डाल दिए जाते हैं, उसके गले में एक तावीज़ पहना दिया जाता है और उसके बैकग्राउंड में कोई इस्लामी धुन बजा दी जाती है। यह कोई इत्तेफाक नहीं है। यह एक दिमागी खेल है, जो बहुत ही बारीकी से खेला जा रहा है ताकि एक आम दर्शक जब असल ज़िंदगी में सड़क पर किसी टोपी या दाढ़ी वाले इंसान को देखे, तो उसके ज़हन में वही वेब सीरीज़ का खूंखार चेहरा घूमने लगे। इन सब चीज़ों के बीच जो सबसे बड़ा सवाल खामोशी से दफन हो गया, वो यह है कि इन फिल्मों और इस पॉप कल्चर में वो आम मुसलमान कहां है, जो हिंदुस्तान की रंगों में खून की तरह दौड़ता है? वो मुस्लिम नौजवान कहां है जो रात-रात भर जागकर सिविल सर्विसेज़ या नीट के इम्तिहान की तैयारी करता है? वो मुस्लिम बाप कहां है जो पसीना बहाकर अपनी बेटियों की फीस भरता है? वो मुस्लिम औरत कहां है जो नकाब या हिजाब पहनकर स्कूल में बच्चों को पढ़ाती है और नई नस्ल का मुस्तकबिल संवारती है? बॉलीवुड ने इन असली और ज़िंदा किरदारों को कभी अपने कैमरे के लेंस में जगह दी ही नहीं। सिनेमा ने हमेशा हमारे दर्द को एक बिकाऊ सामान समझा और हमारी पहचान को एक स्टीरियोटाइप में बांध दिया। इस पॉप कल्चर की ताकत इतनी गहरी है कि आज जब हमारे अपने मुस्लिम बच्चे ये फिल्में या वेब सीरीज़ देखते हैं, तो वो खुद अपनी ही पहचान से कतराने लगते हैं। उन्हें लगता है कि शायद उनका नाम, उनका लिबास और उनका वजूद ही किसी समस्या की जड़ है। जब समाज को लगातार एक ही चश्मे से देखने की आदत डाल दी जाए, तो ज़मीन की हकीकत भी उस फिल्मी पर्दे के सामने बेबस नज़र आने लगती है। बॉलीवुड ने जिस गैर-ज़िम्मेदारी से एक पूरी कौम की तस्वीर को धुंधला और दागदार किया है, उसका खामियाज़ा आज हर उस हिंदुस्तानी मुसलमान को उठाना पड़ रहा है जो बिना किसी कैमरे और बिना किसी स्क्रीन के, अपनी सादी और सच्ची ज़िंदगी जीने की जद्दोजहद कर रहा है। पर्दे के इस मुसलमान ने ज़मीन के मुसलमान की हकीकत को इस कदर निगल लिया है कि अब हमें खुद को इंसान साबित करने के लिए भी एक अंतहीन लड़ाई लड़नी पड़ रही है।

‘रहीम चाचा’ से लेकर ‘खूंखार विलेन’ तक का सफर

सिनेमा कभी भी सिर्फ एक सफेद पर्दा नहीं होता जिस पर कुछ तस्वीरें चलती-फिरती नज़र आती हैं। यह वह जादुई आईना होता है जिसमें एक समाज अपनी शक्ल देखता है, अपने ख्वाब बुनता है और अनजाने में ही अपनी नफरतों और मोहब्बतों को परवान चढ़ाता है। हिंदुस्तान के सिनेमा ने पिछले सत्तर-अस्सी सालों में जो सफर तय किया है, अगर उसमें से हम एक आम मुसलमान के किरदार को बाहर निकालकर देखें, तो वह सफर किसी फिल्मी कहानी से कम खौफनाक और दर्दनाक नहीं लगता। यह सफर एक ऐसे इंसान का सफर है जिसे पहले बेबसी और रहम के सांचे में ढाला गया, और फिर आहिस्ता-आहिस्ता उसे एक ऐसी नफरत की आग में झोंक दिया गया जहां से आज वह एक खूंखार खलनायक की शक्ल में बाहर आ रहा है। अगर हम अपने बचपन और जवानी के उन शुरुआती दिनों की तरफ लौटें जब ब्लैक एंड व्हाइट फिल्मों का दौर हुआ करता था, या जब सिनेमा में रंग नए-नए आए थे, तो हमें पर्दे पर एक बहुत ही खास तरह का मुसलमान नज़र आता था। यह किरदार आमतौर पर किसी ‘रहीम चाचा’, ‘अब्दुल भाई’ या ‘करीम मियां’ के नाम से जाना जाता था। यह रहीम चाचा कौन थे? पर्दे पर उनकी शक्ल कैसी होती थी? अगर आप ज़रा ज़ोर डालें तो याद आएगा कि यह वो इंसान था जो या तो उम्र के आखिरी पड़ाव पर था, या आंखों से अंधा था, या फिर किसी छोटी-मोटी सिलाई की मशीन पर बैठकर कपड़े सीलता था। उसके चेहरे पर एक अजीब सी बेबसी होती थी। वह हर वक्त इबादत में मशगूल रहता था, और उसकी ज़िंदगी का इकलौता मकसद मुख्य नायक (जो हमेशा बहुसंख्यक समाज से होता था) के लिए अपनी जान कुर्बान करना या उसके परिवार की हिफाज़त करना होता था। उस दौर के सिनेमा ने रहीम चाचा के ज़रिए एक बहुत ही खामोश लेकिन गहरा संदेश समाज के ज़हन में बो दिया था। वह संदेश यह था कि एक ‘अच्छा मुसलमान’ वही है जो कमज़ोर हो, जो मोहताज हो, और जो हमेशा वफादारी साबित करने के लिए अपने खून का नज़राना पेश करने को तैयार रहे। रहीम चाचा कभी भी नायक के बराबर कुर्सी पर नहीं बैठते थे। वह दोस्त ज़रूर थे, लेकिन बराबरी वाले दोस्त नहीं, बल्कि एहसानमंद दोस्त। समाज ने रहीम चाचा को पर्दे पर देखकर तालियां तो बहुत बजाईं, उन पर रहम भी बहुत खाया, लेकिन कभी उन्हें अपने बराबर का इंसान तस्लीम नहीं किया। सिनेमा ने उस वक्त एक आम, पढ़े-लिखे, समझदार और अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाने वाले मुसलमान को पर्दे से बिल्कुल गायब रखा।

वक्त गुज़रा और सत्तर व अस्सी के दशक ने सिनेमा के दरवाज़े पर दस्तक दी। यह वह दौर था जब मुल्क में बेरोज़गारी और सिस्टम के खिलाफ गुस्सा उबल रहा था। पर्दे पर अब रहीम चाचा की जगह एक नए किरदार ने ले ली। यह किरदार था 'शेर खान' या किसी 'हाजी मस्तान' से प्रभावित तस्कर का। इस नए किरदार के गले में एक बड़ा सा तावीज़ होता था, बाज़ू पर सात सौ छियासी (786) का बिल्ला बंधा होता था और उसकी ज़बान पर खुदा का नाम होता था। लेकिन यह इंसान अब कमज़ोर नहीं था। वह गैर-कानूनी धंधे करता था, सोने की तस्करी करता था, लेकिन उसका दिल सोने का था। वह नायक से लड़ता था, लेकिन उसूलों का पक्का था। यहां सिनेमा ने एक नई लकीर खींच दी। मुसलमान को अब वफादार से उठाकर अपराध की दुनिया से जोड़ दिया गया। हालांकि इस दौर के विलेन में भी एक इंसानियत बाकी थी, लेकिन अवाम के अवचेतन मन में यह बात बैठाई जा रही थी कि मुसलमान अगर ताकतवर होगा, तो वह यकीनन कोई ना कोई गैर-कानूनी काम ही करेगा। वह पुलिस अफसर, जज या कलेक्टर नहीं हो सकता। उसकी ताकत हमेशा सिस्टम के खिलाफ ही होगी।

फिर नब्बे का दशक आया, और मुल्क की आबोहवा में बाबरी मस्जिद और बंबई के बम धमाकों का धुंआ घुल गया। यहीं से पर्दे के मुसलमान का वह सफर शुरू हुआ जिसने उसके वजूद को हमेशा के लिए दागदार कर दिया। अब रहीम चाचा और शेर खान दोनों मर चुके थे। उनकी राख से सिनेमा ने एक ऐसे किरदार को जन्म दिया जिसकी आंखों में गहरा सुरमा था, जिसके माथे पर नमाज़ का गट्टा था, और जिसके हाथ में बंदूक थी। सिनेमा ने बहुत ही बेदर्दी से इस्लाम की मुकद्दस चीज़ों—टोपी, दाढ़ी, तस्बीह और अज़ान—को आतंकवाद और खून-खराबे के साथ पक्के तौर पर जोड़ दिया। अब पर्दे पर जब भी कोई आतंकवादी दिखाया जाता, तो उसके बैकग्राउंड में कोई ना कोई इस्लामी आयत या धुन बजाई जाती। वह नमाज़ पढ़ने के फौरन बाद किसी मासूम का कत्ल करता हुआ दिखाया जाने लगा। यह कोई इत्तेफाक नहीं था, यह एक बहुत गहरी नफ़्सियाती साज़िश थी। सिनेमा बनाने वाले यह अच्छी तरह जानते थे कि जब कोई आम दर्शक अंधेरे हॉल में बैठकर इन दृश्यों को देखेगा, तो वह सिनेमा हॉल से बाहर निकलने के बाद असल ज़िंदगी में भी हर टोपी पहनने वाले और दाढ़ी रखने वाले शख्स को उसी खौफ की नज़र से देखेगा। इबादत और जुर्म का यह नापाक गठजोड़ सिनेमा ने इतनी चालाकी से किया कि हम हिंदुस्तानी मुसलमान अपनी सफाई में एक लफ़्ज़ भी नहीं बोल पाए।

नई सदी के आने और इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के बाद तो हालात और भी बदतर हो गए। आज का सिनेमा और वेब सीरीज़ का दौर उस नफरत को अपनी चरम सीमा पर ले आया है। अब मुसलमान सिर्फ सरहद पार से आने वाला आतंकवादी नहीं है, बल्कि उसे अब एक 'स्लीपर सेल' के तौर पर दिखाया जाता है। यानी वह इंसान जो आपके पड़ोस में रहता है, आपके साथ हंसता-बोलता है, लेकिन अंदर ही अंदर मुल्क को तबाह करने की साज़िश रच रहा है। यह सबसे खतरनाक नैरेटिव है। इसने समाज में उस भरोसे का कत्ल कर दिया है जो सदियों से हमारे मोहल्लों में ज़िंदा था। आज जब एक आम हिंदू भाई पर्दे पर यह देखता है कि नायक का सबसे करीबी मुस्लिम दोस्त ही आखिर में गद्दार निकलता है, तो असल ज़िंदगी में भी उसका अपने मुस्लिम दोस्त पर से एतमाद डगमगाने लगता है।

आज के दौर में पर्दे पर अगर किसी मुसलमान को अच्छा दिखाना भी हो, तो उसे एक खास कसौटी से गुज़रना पड़ता है। उसे अपनी देशभक्ति साबित करने के लिए अपने ही बाप, भाई या बेटे को गोली मारनी पड़ती है। उसे अपने मज़हब की निशानियों से दूर भागना पड़ता है। यानी अगर आप अपने दीन पर कायम हैं, तो आप मुल्क के वफादार नहीं हो सकते, और अगर आप मुल्क के वफादार हैं, तो आपको अपने मुस्लिम होने की पहचान को कहीं पीछे छोड़ना होगा।

'रहीम चाचा' की उस बेबस मुस्कान से लेकर आज के वेब सीरीज़ वाले 'खूंखार विलेन' की खौफनाक हंसी तक का यह सफर सिर्फ सिनेमा के किरदारों का सफर नहीं है। यह इस मुल्क में एक आम मुसलमान की गिरती हुई हैसियत का सफर है। पर्दे पर गढ़ी गई इन झूठी और ज़हरीली शकलों ने ज़मीन पर चलने वाले उस आम मुसलमान को ज़िंदा दफन कर दिया है जो महज़ अपनी रोज़ी-रोटी कमाना चाहता है, जो मुल्क की तरक्की में अपना पसीना बहा रहा है। हम सिनेमा के पर्दे से पूरी तरह मिटा दिए गए हैं, और हमारी जगह एक ऐसे खौफनाक पुतले को खड़ा कर दिया गया है जिससे पूरा समाज नफरत कर सके। यह कोई मामूली बात नहीं है, और न ही इसे यह कहकर नज़रअंदाज़ किया जा सकता है कि "यह तो सिर्फ एक फिल्म है।" फिल्में समाज का आईना होती हैं, लेकिन जब आईना बनाने वाले ही आईने में ज़हर घोल दें, तो देखने वाले को अपनी ही शकल से खौफ आने लगता है। और यही आज के दौर का सबसे बड़ा और सबसे कड़वा सच है।

आम नौकरीपेशा, पढ़े-लिखे मुसलमान को पर्दे से कैसे गायब कर दिया गया?

जब मैं अपने इर्द-गिर्द देखता हूँ, अपने मोहल्ले में, अपने रिश्तेदारों में, या अपने आसपास अपने साथ काम करते हुए अपने साथियों दोस्तों या पड़ोसियों को तो मुझे एक बिल्कुल ही अलग दुनिया नज़र आती है। मुझे वो मुसलमान नज़र आता है जो सुबह सवेरे अपनी स्कूटी या मोटरसाइकिल स्टार्ट करता है और दफ्तर के लिए निकल पड़ता है। मुझे वो मुस्लिम लड़कियां नज़र आती हैं जो हाथों में किताबें लिए कॉलेज बस का इंतज़ार कर रही होती हैं। मुझे वो नौजवान दिखते हैं जो रात-रात भर जागकर सिविल सर्विसेज़, मेडिकल या इंजीनियरिंग की तैयारी में अपनी जवानी खपा रहे हैं। ये वो लोग हैं जो टैक्स भरते हैं, जो ट्रैफिक सिग्नल पर लाल बत्ती होने पर अपनी गाड़ी रोकते हैं, जो महंगाई से परेशान होते हैं, और जो अपने मुल्क की हर तरक्की पर फख्र से मुस्कुराते हैं। लेकिन जैसे ही मैं किसी मल्टीप्लेक्स में जाकर सिनेमा के बड़े पर्दे की तरफ देखता हूँ, या घर पर कोई नई वेब सीरीज़ लगाता हूँ, तो मुझे एक गहरा सदमा लगता है। मेरा यह आम, नौकरीपेशा और पढ़ा-लिखा मुसलमान इस जादुई पर्दे से पूरी तरह गायब है। उसे इतनी खामोशी और बेदर्दी से मिटा दिया गया है जैसे उसका कभी वजूद ही ना रहा हो। यह कोई इत्तेफाक नहीं है, और न ही यह किसी कहानीकार की भूल है। एक आम, पढ़े-लिखे मुसलमान को पर्दे से गायब करना एक बहुत ही सोची-समझी साज़िश का हिस्सा है। सिनेमा हमेशा से जज़्बातों का बाज़ार रहा है, और इस बाज़ार के सौदागरों ने यह बात बहुत पहले ही समझ ली थी कि अगर मुसलमान को एक आम इंसान की तरह पेश किया गया, तो बहुसंख्यक समाज के ज़हन में उसके लिए नफरत पैदा करना मुश्किल हो जाएगा।

ज़रा सोचिए, अगर पर्दे पर एक ऐसा मुस्लिम किरदार दिखाया जाए जो किसी कॉलेज में फिजिक्स का प्रोफेसर है, जो अपने बच्चों को अच्छी तालीम देने की जद्दोजहद कर रहा है, जो अपनी बीवी के साथ घर का राशन लाने बाज़ार जाता है, और जो शाम को अपने हिंदू दोस्तों के साथ बैठकर चाय की चुस्कियों के बीच मुल्क की सियासत पर एक सुलझी हुई बहस करता है, तो उसे देखकर किसी के दिल में खौफ कैसे पैदा होगा? ऐसे किरदार से तो कोई भी आम इंसान जुड़ जाएगा। एक हिंदू डॉक्टर, एक मुस्लिम डॉक्टर का दर्द समझ लेगा। एक हिंदू बाप, एक मुस्लिम बाप की फिक्र को महसूस कर लेगा।

अगर यह होने लगा, तो फिर उन न्यूज़ चैनलों की टीआरपी और उन सियासी पार्टियों की दुकानें कैसे चलेंगी जो दिन-रात हिंदू-मुस्लिम की नफरत की आग पर रोटियां सेंकती हैं? इसीलिए, पर्दे से इस आम मुसलमान का कत्ल करना बेहद ज़रूरी था। सिनेमा बनाने वालों ने हमारे हाथों से किताबें छीन लीं और हमारे किरदारों के हाथों में बंदूकें थमा दीं। उन्होंने हमारे दफ्तरों के कंप्यूटर स्क्रीन बंद कर दिए और हमें काले धंधों के अड्डों पर खड़ा कर दिया। उन्होंने हमारे चेहरों की वो संजीदगी छीन ली जो एक आम नौकरीपेशा इंसान के चेहरे पर होती है, और हमारे किरदारों की आंखों में वो खौफनाक सुरमा लगा दिया जो सिर्फ खून का प्यासा होता है। आप किसी भी बड़ी फिल्म या मशहूर वेब सीरीज़ का नाम ले लीजिए। उसमें अगर कोई मुसलमान है, तो वो क्या कर रहा है? या तो वो किसी पुरानी टूटी-फूटी इमारत में बैठकर मुल्क को तबाह करने का प्लान बना रहा है, या फिर किसी कसाईखाने में जानवरों का गोشت काटते हुए किसी को धमका रहा है। अगर उसे थोड़ा बहुत रहम खाकर कोई इज़्ज़तदार काम दिया भी गया, तो वो किसी छोटे मोहल्ले का इत्र बेचने वाला होगा या कोई बिरयानी की दुकान चलाने वाला। मुझे इत्र बेचने या बिरयानी पकाने वाले से कोई ऐतराज़ नहीं है, यह हलाल और इज़्ज़त की रोज़ी है, लेकिन क्या हिंदुस्तान के तीस करोड़ मुसलमानों की पहचान सिर्फ यहीं तक महदूद है?

क्या इस मुल्क में मुस्लिम साइंटिस्ट नहीं हैं जिन्होंने इसरो (ISRO) या डीआरडीओ (DRDO) में अपनी ज़िंदगियां खपा दीं? क्या वो मुस्लिम डॉक्टर नहीं हैं जो रात के दो बजे उठकर किसी अनजान मरीज़ की जान बचाते हैं? क्या वो मुस्लिम सीए (CA) नहीं हैं जो मुल्क की बड़ी-बड़ी कंपनियों का हिसाब-किताब संभालते हैं? बिल्कुल हैं, और हज़ारों-लाखों की तादाद में हैं। लेकिन कैमरे का लेंस हमेशा उनके चेहरों के सामने से हटकर किसी जाहिल और खूंखार चेहरे की तलाश में भटक जाता है। पर्दे से पढ़े-लिखे मुसलमान की इस गैर-मौजूदगी ने हमारी नई नस्ल की नफ़्सीयात (मनोविज्ञान) पर एक बहुत ही गहरा और मनहूस असर डाला है। जब एक छोटा बच्चा, चाहे वो किसी भी मज़हब का हो, पर्दे पर यह देखता है कि हर मुज़रिम के गले में तावीज़ है और वो उर्दू के लफ्ज़ बोल रहा है, तो उसके कच्चे ज़हन में यह बात छप जाती है कि यही मुसलमानों की असली हकीकत है। और सबसे बड़ा दर्द तो तब होता है जब हमारा अपना ही कोई बच्चा यह पूछ बैठता है कि अब्बू, क्या फिल्मों में हमारे जैसे लोग नहीं होते? उसे हम क्या जवाब दें?

क्या हम उसे यह बताएं कि इस मुल्क का सिनेमा तुम्हारे अब्बू जैसे शरीफ और नौकरीपेशा इंसान को कैमरे के काबिल ही नहीं समझता? इस साज़िश का एक और पहलू बहुत खतरनाक है। जब आप एक कौम के पढ़े-लिखे तबके को पर्दे से गायब कर देते हैं, तो आप दरअसल उस कौम को समाज की मुख्यधारा से काट देते हैं। आप बाकी दुनिया को यह बता रहे होते हैं कि इस कौम में कोई ऐसा इंसान नहीं है जिससे बात की जा सके, जिससे कोई बौद्धिक (ज़हनी) बहस की जा सके। आप यह साबित करना चाहते हैं कि यह कौम तो सिर्फ जज़्बातों में बहने वाली, अनपढ़ और जाहिल कौम है, जिसके साथ सिर्फ डंडे या शक की ज़बान में ही बात की जा सकती है।

मुझे आज भी याद है जब कोरोना की वो खौफनाक वबा (महामारी) फैली थी। कितने ही मुस्लिम डॉक्टरों, नर्सों और फार्मासिस्टों ने अपनी जान की परवाह किए बिना लोगों की खिदमत की। कई तो खुद इस बीमारी का शिकार होकर इस दुनिया से रुखसत हो गए। लेकिन जब इसी वबा पर फिल्में या सीरीज़ बनीं, तो उनमें वो मुस्लिम डॉक्टर कहीं नज़र नहीं आया। वहां कैमरे का पूरा फोकस सिर्फ इस बात पर था कि कैसे कुछ दाढ़ी वालों ने बीमारी फैलाई। यह उस नमकहरामी की सबसे बड़ी मिसाल है जो हमारा सिनेमा इस मुल्क के आम मुसलमान के साथ कर रहा है।

हम कोई फरिश्ते नहीं हैं। हमारे समाज में भी कमियां हैं, जहालत है, और जुर्म भी हैं। लेकिन हम सिर्फ वही तो नहीं हैं जो वो खौफनाक पर्दा हमें दिखा रहा है। हमारी ज़िंदगी में भी वो सुबह की अज़ान के बाद की भागदौड़ है, दफ्तर पहुंचने की जल्दी है, महीने के आखिर में खत्म होते पैसों की फिक्र है, और बच्चों की तरक्की के वो छोटे-छोटे ख्वाब हैं जो हर आम हिंदुस्तानी देखता है। लेकिन इस ज़मीनी सच को इतनी बेरहमी से पर्दे के पीछे धकेल दिया गया है कि अब हमें खुद को यकीन दिलाना पड़ता है कि हां, हम भी इसी समाज का एक आम और शरीफ हिस्सा हैं। इस सिनेमा और पॉप कल्चर ने हमारे वजूद के उस आम और सादे हिस्से को कत्ल कर दिया है जो हमें बाकी समाज से जोड़ सकता था। उन्होंने हमारे हाथों से कलम छीनकर पर्दे पर हमें हथियार थमा दिए हैं, ताकि वो अपनी नफरत की कहानी को बिना किसी रुकावट के बेच सकें। और जब तक यह आम, पढ़ा-लिखा और नौकरीपेशा मुसलमान वापस पर्दे पर अपनी असली शक्ल में नहीं लौटता, तब तक ज़मीन पर हमारे और बाकी समाज के बीच फैली हुई यह गलतफहमी और नफरत की खाई कभी नहीं भरी जा सकेगी।

तीसरा बाब: न्यूज़ रूम की अदालत और टीआरपी का खेल

प्राइम टाइम डिबेट्स का पूरा बिज़नेस मॉडल क्या है?

दिन भर की भागदौड़ और अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में काम करने के बाद जब मैं या मुझ जैसा कोई भी आम इंसान शाम को थक कर घर लौटता है, तो वह थोड़ा सुकून चाहता है। इंसान चाहता है कि वह जाने कि आज दिन भर दुनिया में क्या हुआ, मुल्क की सियासत किस तरफ जा रही है, और क्या हमारे इर्द-गिर्द कोई ऐसी खबर है जिसका असर हमारी जिंदगी पर पड़ेगा। लेकिन शाम के सात बजते ही जब हम न्यूज़ चैनल खोलते हैं, तो हमें वहां सुकून या जानकारी नहीं मिलती। स्क्रीन पर बड़ी-बड़ी और खौफनाक लाल पट्टियां चलने लगती हैं, बैकग्राउंड में किसी हॉरर फिल्म जैसा म्यूज़िक बजने लगता है, और एक एंकर किसी खूंखार मुंसिफ या जज की तरह चीखना शुरू कर देता है। पहली नज़र में एक आम दर्शक को यह लग सकता है कि यह कोई बहुत अहम खबर है जिस पर बहस हो रही है, लेकिन हकीकत कुछ और है। यह कोई पत्रकारिता नहीं है। यह एक बहुत ही ठंडे दिमाग से तैयार किया गया बिज़नेस मॉडल है, एक ऐसा धंधा जिसका कच्चा माल हमारी नफरत है, और जिसका मुनाफा करोड़ों की कमाई है। इस धंधे को गहराई से समझने के लिए हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि असली खबर बनती कैसे है। ज़मीनी हकीकत दिखाने वाली सच्ची पत्रकारिता बहुत महंगी और मेहनत तलब होती है। अगर आपको रोज़गार पर, किसानों की खुदकुशी पर, शिक्षा पर, या छोटे शहरों में अस्पतालों की खस्ता हालत पर खबर दिखानी है, तो आपको अपने रिपोर्टर्स को चिलचिलाती धूप या कड़ाके की ठंड में ज़मीन पर भेजना होगा। कैमरामैन का खर्च, ओबी वैन का खर्च, सफर का खर्च और महीनों की रिसर्च—इन सबमें बहुत पैसा और वक्त लगता है। लेकिन न्यूज़ चैनलों के मालिकों ने एक ऐसा शॉर्टकट खोज निकाला जो बेहद सस्ता है और मुनाफा कई गुना ज़्यादा देता है। यह शॉर्टकट है—प्राइम टाइम की बहस। वातानुकूलित स्टूडियो में चार कुर्सियां डालिए, चार ऐसे लोगों को बुलाइए जो ऊंची आवाज़ में एक-दूसरे को बेइज़्जत कर सकें, और एक ऐसा ज़हरीला मुद्दा उछाल दीजिए जिससे समाज में फौरन आग लग सके। न ज़मीन पर जाने की ज़रूरत, न किसी तहकीकात का खर्च। एक कमरे के अंदर बैठकर सबसे कम लागत में सबसे ज़्यादा कमाई करने का यह मीडिया के इतिहास का सबसे कामयाब और सबसे खौफनाक बिज़नेस मॉडल बन चुका है।

इस पूरे खेल की धुरी सिर्फ एक ही चीज़ पर टिकी है, और वह है टीआरपी। टीआरपी वह पैमाना है जो यह तय करता है कि किस चैनल को कितने लोग और कितनी देर तक देख रहे हैं। जिस चैनल की टीआरपी जितनी ज़्यादा होगी, उसे विज्ञापन देने वाली बड़ी कंपनियों से उतना ही ज़्यादा पैसा मिलेगा। अब सबसे बड़ा सवाल यह है कि यह टीआरपी बढ़ती कैसे है? इंसानी दिमाग की एक नपसियाती (मनोवैज्ञानिक) कमज़ोरी है—वह शांति, अच्छी बातों या सुकून देने वाली चीज़ों से जल्दी ऊब जाता है, लेकिन डर, गुस्सा, हंगामा और विवाद उसे बांधे रखते हैं। न्यूज़ चैनलों ने इंसान की इसी कमज़ोरी को अपना सबसे बड़ा हथियार बना लिया है। अगर टीवी पर दो समझदार लोगों को बैठाकर मुल्क की गिरती अर्थव्यवस्था या तालीम पर कोई सुलझी हुई और संजीदा बात करवाई जाए, तो आम दर्शक कुछ ही मिनटों में चैनल बदल देगा। लेकिन अगर उसी कुर्सी पर एक दाढ़ी वाले कथित मौलाना और किसी दूसरे मज़हब के कट्टर नुमाइंदे को बैठाकर एक-दूसरे को गालियां देने पर मजबूर कर दिया जाए, तो दर्शक अपनी जगह से हिलेगा नहीं। उसे उस चीख-पुकार में एक अजीब सा मज़ा आने लगता है। न्यूज़ चैनल अब हमें खबरें नहीं दे रहे हैं, वो हमें गुस्से और नफरत का एक नशा बेच रहे हैं, और हम बिना जाने रोज़ रात को उस नशे के आदी होते जा रहे हैं। इस बिज़नेस मॉडल का सबसे दिलचस्प और खौफनाक हिस्सा है—इसकी कास्टिंग, यानी किरदारों का चुनाव। टीवी स्क्रीन पर अलग-अलग खिड़कियों में जो लोग बहस करने आते हैं, वो कोई विषय विशेषज्ञ या समाज के सच्चे नुमाइंदे नहीं होते। वो एक पहले से तयशुदा स्क्रिप्ट के मोहरे होते हैं। इस स्क्रिप्ट में एंकर एक ‘रक्षक’ या स्वयंभू जज का रोल अदा करता है। उसके बाद एक ऐसा शख्स लाया जाता है जिसका काम सिर्फ बहुसंख्यक समाज के गुस्से को भड़काना होता है। और सबसे आखिर में एक ऐसा ‘नकली मुसलमान’ स्क्रीन पर बिठाया जाता है जिसे जान-बूझकर ज़लील होने के लिए लाया गया है। इन लोगों को बाकायदा पैसे दिए जाते हैं ताकि वो स्क्रीन पर बेतुकी बातें करें, एंकर से डांट खाएं और एक पूरे मुस्लिम समुदाय की छवि को मिट्टी में मिला दें। यह बिल्कुल किसी कुश्ती के मैच की तरह है जहां पहले से तय होता है कि कौन पीटेगा और कौन मार खाएगा। और इस पूरे नाटक में हिंदुस्तानी मुसलमान को एक ऐसे पंचिंग बैग में तब्दील कर दिया गया है जिस पर मुक्के मारकर न्यूज़ चैनल अपनी टीआरपी बटोर रहे हैं और सियासतदान अपने वोट बैंक की रोटियां सेंक रहे हैं।

जब मैं रोज़मर्रा की ज़िंदगी के मसायल से जूझते हुए मुल्क के आम मुसलमानों को देखता हूँ, तो मुझे यह देखकर एक गहरी कोफ्त होती है कि कैसे मेरी और मेरे जैसे करोड़ों आम मुसलमानों की पहचान को एक बिकाऊ माल बना दिया गया है। हमारे लिबास, हमारे खान-पान, हमारी अज़ान, और हमारे नाम—इन सबको एक खतरे के तौर पर पेश करके ये चैनल अपनी दुकानें चला रहे हैं। एक आम मुसलमान रोज़ सुबह उठकर अपने मुस्तकबिल और अपनी रोज़ी-रोटी की जद्दोजहद में लगता है, लेकिन ये न्यूज़ चैनल रोज़ शाम को उसकी वफादारी का एक नया ट्रायल शुरू कर देते हैं। उन्हें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि उनके इस धंधे की वजह से ज़मीन पर कितने दिल टूट रहे हैं, कितने बरसों पुराने पड़ोसी अजनबी बन रहे हैं, और कितने बेगुनाहों को शक की नज़र से देखा जाने लगा है। उनके लिए तो मुसलमान सिर्फ एक ‘मुद्दा’ है, जो मुफ्त में उनकी स्क्रीन को गर्म रखता है और उनके बैंक खातों को भरता है। इस मॉडल में बहस दरअसल बहस होती ही नहीं है। अगर आप कभी आवाज़ कम करके सिर्फ स्क्रीन पर गौर करें, तो आपको समझ आएगा कि वहां बैठे लोगों को अपनी बात पूरी करने का मौका कभी नहीं दिया जाता। जैसे ही कोई वाजिब या तार्किक बात शुरू होती है, एंकर तुरंत उसे टोक देता है, या बैकग्राउंड से एक ऐसा शोर पैदा कर दिया जाता है कि असली और सच्ची आवाज़ दब जाए। यहां मकसद किसी नतीजे पर पहुंचना है ही नहीं। मकसद सिर्फ वो शोर पैदा करना है जो दर्शकों के दिमाग को सुन्न कर दे। जब इंसान का दिमाग सुन्न हो जाता है, तो वह सोचने-समझने की ताक़त खो देता है, और सिर्फ वही सच मानता है जो उसे स्क्रीन पर बार-बार चीख कर बताया जा रहा है। इस बिज़नेस मॉडल का एक और स्याह पहलू वो बड़ी-बड़ी कॉर्पोरेट कंपनियां हैं जो इन न्यूज़ चैनलों को विज्ञापन देती हैं। हम और आप जिन कंपनियों के साबुन, टूथपेस्ट, गाड़ियां या मोबाइल फोन खरीदते हैं, वही कंपनियां इन नफरत भरे कार्यक्रमों की स्पॉन्सर होती हैं। जब तक टीआरपी आती रहेगी, तब तक ये विज्ञापनदाता पैसा बहाते रहेंगे। उन्हें इस बात से कोई सरोकार नहीं है कि उनका पैसा इस मुल्क के सामाजिक ताने-बाने को तार-तार कर रहा है। यह मुनाफे की एक ऐसी अंधी दौड़ है जिसमें मुल्क की जम्हूरियत, हमारी गंगा-जमुनी तहज़ीब और एक आम इंसान का सुकून कुचला जा रहा है। प्राइम टाइम डिबेट्स का यह बिज़नेस मॉडल असल में पत्रकारिता की मौत का सबसे बड़ा और सबसे पक्का दस्तावेज़ है।

यह एक ऐसा बाज़ार है जहां सच को रोज़ाना सरेआम नीलाम किया जाता है और झूठ को बहुत ही खूबसूरत, सनसनीखेज़ और डरावने पैकेट में बंद करके हर घर में परोसा जाता है। एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान इस पूरे खेल का सबसे आसान और मुफीद शिकार है, क्योंकि उसे डर का प्रतीक बनाकर बेचना सबसे ज़्यादा मुनाफ़े का सौदा बन चुका है। हमें यह बात बहुत गहराई से समझनी होगी कि शाम सात बजे से रात ग्यारह बजे तक स्क्रीन पर जो कुछ भी होता है, वह मुल्क की फिक्र या पत्रकारिता नहीं है, वह सिर्फ़ और सिर्फ़ एक बहुत बड़े और खौफनाक धंधे का हिस्सा है, जिसकी कीमत हम अपनी इंसानियत और अपने भाईचारे को दांव पर लगाकर चुका रहे हैं।

‘नकली नुमाइंदे’: टीवी पर वो कौन लोग हैं जो पूरे समुदाय की नुमाइंदगी का दावा करते हैं?

शाम के वक्त जब मुल्क का एक आम इंसान दिन भर की भागदौड़ और अपनी रोज़मर्रा की जद्दोजहद के बाद घर लौटता है, तो उसके ज़हन में बहुत सी फ़िक्रें होती हैं। घर का खर्च, बच्चों की तालीम, मुस्तक़बिल के ख़्वाब और समाज में इज़ज़त की ज़िंदगी गुज़ारने की ख़्वाहिश। वो जब सुकून के चंद पलों के लिए अपने परिवार के साथ बैठकर टीवी खोलता है, तो स्क्रीन पर एक ऐसी अजनबी दुनिया सजी होती है जिसका ज़मीन पर बसने वाले किसी भी आम मुसलमान की असल ज़िंदगी से दूर-दूर तक कोई वास्ता ही नहीं होता। टीवी की स्क्रीन पर कुछ ऐसे चेहरे बैठे होते हैं जिन्हें किसी भी आम मुसलमान ने अपनी पूरी ज़िंदगी में कभी किसी मोहल्ले, किसी जलसे, किसी यूनिवर्सिटी या किसी मस्जिद में नहीं देखा होता। फिर भी, न्यूज़ चैनल चीख-चीख कर यह दावा कर रहे होते हैं कि ये लोग हमारी, यानी मुल्क के तीस करोड़ मुसलमानों की नुमाइंदगी कर रहे हैं।

आखिर ये लोग हैं कौन? ये वो सवाल है जो हर सच्चा और ज़मीनी मुसलमान आज खुद से पूछ रहा है। जब भी स्क्रीन पर इस्लाम या मुसलमानों से जुड़ा कोई मुद्दा उछाला जाता है, तो न्यूज़ चैनलों की टीम किसी पढ़े-लिखे, संजीदा और सुलझे हुए मुसलमान को नहीं ढूँढती। वो किसी ऐसे इंसान को अपने स्टूडियो में नहीं बुलाते जो संविधान की बात करे, जो मुल्क की तरक्की की बात करे या जो हमारे असल मसलों पर रोशनी डाले। उनकी तलाश एक खास तरह के हुलिए तक जाकर खत्म हो जाती है। न्यूज़ चैनलों को एक ऐसा शख्स चाहिए जिसकी दाढ़ी बहुत लंबी हो, जिसने एक खास तरह की टोपी पहन रखी हो, और जिसका लिबास उनके गढ़े हुए सांचे पर बिल्कुल खरा उतरता हो। यह शख्स कोई आलिम नहीं होता, कोई मुफ्ती नहीं होता, और न ही ज़मीन पर इसकी कोई हैसियत होती है। यह महज़ एक किरदार है, बिल्कुल उसी तरह जैसे किसी नाटक के लिए एक किराए का मोहरा चुना जाता है। इन नकली नुमाइंदों का काम टीवी पर आकर कोई संजीदा बहस करना नहीं होता। इनका काम होता है जहालत भरी बातें करना, बिना सिर-पैर के फतवे देना और ऐसी बेतुकी ज़िद पर अड़ जाना जिससे स्क्रीन के उस पार बैठे बहुसंख्यक समाज का खून खौल उठे।

आप खुद सोचिए, एक आम मुसलमान जो दिन भर पसीना बहाकर अपने बच्चों के मुस्तकबिल के लिए मेहनत कर रहा है, जिसके घर में बेटियों की पढ़ाई और उनकी कामयाबी के ख्वाब बुने जा रहे हैं, क्या उसकी सोच उस टीवी वाले जाहिल शख्स से मिल सकती है? हरगिज़ नहीं। हमारा दीन हमें तालीम, तहज़ीब और भाईचारे का सबक देता है। लेकिन न्यूज़ चैनल जान-बूझकर ऐसे ही जाहिल लोगों को माइक थमाते हैं, क्योंकि अगर कोई पढ़ा-लिखा मुसलमान वहां बैठ गया, तो वो दलील के साथ बात करेगा, हकीकत बयान करेगा, और दलील से न्यूज़ चैनलों की टीआरपी नहीं आती। टीआरपी आती है हंगामे से, बेवकूफी से और नफरत भड़काने से। यह पूरी जमात जो हर शाम अलग-अलग न्यूज़ चैनलों पर मुसलमानों की तरफ से वकालत करने पहुंच जाती है, असल में किराए के लोग हैं। इन लोगों को स्टूडियो में बुलाया ही इसलिए जाता है ताकि एंकर इन्हें सरेआम बेइज़्जत कर सके। ये वहां बैठकर गालियां खाते हैं, जलील होते हैं, और बदले में इन्हें इस बात की कीमत चुकाई जाती है। यह उनका पेशा बन चुका है। लेकिन इस ज़िल्लत की सबसे भारी कीमत ये लोग खुद नहीं चुकाते, बल्कि इसकी कीमत वो आम हिंदुस्तानी मुसलमान चुकाता है जो अपने घर की चारदीवारी में बैठकर टीवी देखते हुए अंदर ही अंदर सुलगता रहता है। जब वो एंकर उस नकली मौलाना को डांट रहा होता है या उसकी तौहीन कर रहा होता है, तो असल में वो पूरे मुस्लिम समाज को नीचा दिखा रहा होता है। और वो नकली नुमाइंदा अपनी जाहिलाना बातों से इस बात पर मुहर लगा रहा होता है कि हां, हम मुसलमान ऐसे ही जाहिल, औरत-विरोधी और कट्टर हैं। इस साज़िश का ज़मीनी नुकसान कितना भयानक है, इसका अंदाज़ा स्टूडियो के वातानुकूलित कमरों में बैठे उन लोगों को नहीं है। जब हमारा कोई गैर-मुस्लिम पड़ोसी या दिन भर साथ उठने-बैठने वाला कोई हिंदू भाई टीवी पर इन नकली नुमाइंदों की चीख-पुकार और भड़काऊ बातें सुनता है, तो अनजाने में ही उसके ज़हन में भी शक का बीज बो दिया जाता है। वो सोचने लगता है कि जब इनका नुमाइंदा टीवी पर ऐसी ज़हरीली बातें कर रहा है, तो शायद हर मुसलमान अंदर से ऐसा ही सोचता होगा। टीवी के उस एक बिकाऊ शख्स की वजह से, ज़मीन पर रहने वाले करोड़ों देशभक्त और मेहनती मुसलमानों की नीयत पर सवाल खड़े हो जाते हैं। हमारे आपसी भाईचारे की वो दीवारें चटकने लगती हैं जिन्हें हमने सदियों से एक साथ मिलकर बनाया था।

न्यूज़ चैनलों ने इन नकली चेहरों को एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया है। जब भी मुल्क में बेरोज़गारी की बात उठती है, महंगाई चरम पर होती है, या हुकूमत से सवाल पूछने का वक्त आता है, तो मीडिया फौरन इनमें से किसी एक चेहरे को स्क्रीन पर उतार देता है। वो शख्स आकर कोई ऐसा बेतुका बयान दे देता है जिससे रातों-रात पूरे मुल्क की बहस का मुद्दा ही बदल जाता है। लोग अपनी असली तकलीफें भूलकर हिंदू-मुस्लिम की उस झूठी आग में जलने लगते हैं जो न्यूज़ रूम में बैठे लोगों ने सुलगाई होती है। और इस पूरी आग का ठीकरा हमेशा की तरह एक आम मुसलमान के सिर पर फोड़ दिया जाता है। मुझे और मेरे जैसे करोड़ों हिंदुस्तानी मुसलमानों को इन नकली नुमाइंदों की कोई ज़रूरत नहीं है। हमारी नुमाइंदगी हमारी मेहनत करती है, हमारा पसीना करता है, और मुल्क के कानून के प्रति हमारी वफादारी करती है। हमारी नुमाइंदगी वो नौजवान करता है जो रात-रात भर जागकर इम्तिहान की तैयारी कर रहा है, वो बाप करता है जो धूप में खड़े होकर घर का राशन जुटा रहा है, और वो हिंदुस्तानी करता है जो मुल्क की हिफाज़त के लिए हर दम तैयार है। हमारी शराफत और हमारा किरदार ही हमारी असली पहचान है। हमें किसी ऐसे रहनुमा की ज़रूरत नहीं है जिसे न्यूज़ चैनलों ने अपनी टीआरपी की गंदी फैक्ट्री में गढ़ा हो।

आज वक्त आ गया है कि हम इन नकली चेहरों को पूरी तरह से और सरेआम खारिज कर दें। हमें अपने समाज और मुल्क के बाकी लोगों को यह बताना होगा कि टीवी स्क्रीन की चौकोर खिड़कियों में बैठे ये लोग हमारे ठेकेदार नहीं हैं। इन्होंने चंद रुपयों और सस्ती शोहरत के लिए हमारी कौम का और हमारी पहचान का सौदा किया है। जब तक हम इन नकली नुमाइंदों का पर्दाफाश करके अपनी असली आवाज़—जो कि तरक्की, तालीम, इंसानियत और भाईचारे की आवाज़ है—दुनिया के सामने नहीं लाएंगे, तब तक यह मीडिया की अदालत हमें ऐसे ही मुज़रिम बनाकर कटघरे में खड़ा करती रहेगी। हमारी खामोशी इन नकली नुमाइंदों की सबसे बड़ी ताकत है, और अब अपनी सोच और अपने ज़मीर की खातिर, इस खामोशी को तोड़ने का वक्त आ गया है।

शब्दों का खेल: आतंकवाद, जिहाद और तुष्टिकरण जैसे शब्दों का हथियार की तरह इस्तेमाल

कहा जाता है कि लफ्ज़ों में जान होती है। वे मरहम भी बन सकते हैं और तलवार भी। हमारे बुजुर्ग अक्सर यह नसीहत दिया करते थे कि ज़बान से निकला हुआ लफ्ज़ और कमान से निकला हुआ तीर कभी वापस नहीं लौटता। लेकिन आज के इस आधुनिक दौर में, जहां सूचनाएं पलक झपकते ही करोड़ों लोगों तक पहुंच जाती हैं, वहां लफ्ज़ सिर्फ तीर नहीं रहे, बल्कि वो ऐसे खौफनाक हथियार बन चुके हैं जो बिना खून बहाए ही पूरी की पूरी कौम का कत्ल कर देते हैं। हमारे मुल्क के मीडिया और न्यूज़ रूम्स ने लफ्ज़ों के साथ जो खेल खेला है, वह पत्रकारिता के इतिहास का सबसे काला पन्ना है। उन्होंने हमारी अपनी ज़बान के कुछ शब्दों को चुराया, उनके असल मायने खत्म किए, और फिर उन्हीं शब्दों को ज़हर में बुझाकर हमारे ही सीनों में उतार दिया। इस ज़हरीली डिक्शनरी के सबसे खौफनाक लफ्ज़ हैं— आतंकवाद, जिहाद और तुष्टिकरण। आइए ज़रा ठंडे दिमाग से इस बात की गहराई में उतरते हैं कि कैसे स्क्रीन पर बैठे चंद लोगों ने इन तीन लफ्ज़ों का इस्तेमाल करके एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान की शक्ति को दुनिया की नज़रों में एक मुज़रिम में तब्दील कर दिया। सबसे पहले बात करते हैं ‘आतंकवाद’ की। जुर्म का, दहशतगर्दी का, और बेगुनाहों का खून बहाने का कोई मज़हब नहीं होता। एक कातिल सिर्फ कातिल होता है, और आतंकवाद सिर्फ इंसानियत का दुश्मन। लेकिन हमारे न्यूज़ चैनलों ने बहुत ही सोची-समझी साज़िश के तहत इस लफ्ज़ को एक खास लिबास, एक खास हुलिए और एक खास मज़हब के साथ इस कदर पक्के तौर पर जोड़ दिया है कि अब यह दोनों एक दूसरे की पहचान बन गए हैं। अगर कोई वारदात होती है, और मुज़रिम का नाम किसी और समाज से जुड़ा है, तो उसे मीडिया में भटका हुआ नौजवान, सिरफिरा आशिक, या मानसिक रूप से बीमार बताया जाता है। लेकिन अगर इत्तेफाक से उस मुज़रिम का नाम मुसलमान है, तो स्क्रीन का रंग फौरन लाल हो जाता है और बड़े-बड़े हरफों में ‘आतंकवाद’ और ‘दहशतगर्द’ लिखकर पूरे समुदाय को कठघरे में खड़ा कर दिया जाता है। इस एक लफ्ज़ ने हमारे नौजवानों से उनका आम इंसान होने का हक छीन लिया है। उन्हें हर वक्त इस खौफ में जीना पड़ता है कि कहीं किसी अनजान हादसे की आंच उन तक न पहुंच जाए और मीडिया उन्हें बिना अदालत के आतंकवादी न घोषित कर दे।

अब आते हैं उस लफ़्ज़ पर जिसके साथ मीडिया ने सबसे बड़ी नाइंसाफी और सबसे बड़ा खिलवाड़ किया है—‘जिहाद’। अगर आप इस्लाम के किसी भी जानकार से पूछें, या किसी भी मुकद्दस किताब को पढ़ें, तो आपको पता चलेगा कि जिहाद का असल मतलब क्या है। जिहाद का मतलब है जद्दोजहद करना, कोशिश करना। अपने अंदर की बुराइयों से लड़ना ‘जिहादे अकबर’ यानी सबसे बड़ा जिहाद कहलाता है। एक गरीब बाप का अपने बच्चों का पेट पालने के लिए धूप में पसीना बहाना भी जिहाद है। एक तालिब-ए-इल्म (विद्यार्थी) का अपनी तालीम के लिए रात भर जागना भी जिहाद है। लेकिन टीवी चैनलों के न्यूज़ रूम में बैठे उन एंकरों ने, जिनका किसी भी तरह के इल्म से कोई वास्ता नहीं है, इस निहायत ही पाकीज़ा लफ़्ज़ को एक खौफनाक दानव बना दिया है। उन्होंने ‘जिहाद’ को सिर्फ और सिर्फ खून-खराबे, तलवार और जुल्म का पर्याय बना दिया। और बात सिर्फ यहीं नहीं रुकी। न्यूज़ चैनलों ने अपनी टीआरपी की भूख मिटाने के लिए इस लफ़्ज़ के इतने भद्दे और बेतुके इस्तेमाल शुरू कर दिए कि आज समाज का अवचेतन मन पूरी तरह से सुन्न हो चुका है। दो अलग-अलग मज़हब के लोग अगर अपनी मज़्ही से ज़िंदगी गुज़ारना चाहें, तो उसे एक नया नाम दे दिया गया। अगर किसी ने ज़मीन खरीद ली, तो उसे ज़मीन का जिहाद कह दिया गया। अगर कोई मुसलमान किसी कारोबार में तरक्की कर ले, तो उसे भी एक नए तरह के जिहाद का नाम देकर अवाम को डराया जाने लगा। खाने से लेकर पीने तक, हर छोटी-बड़ी चीज़ के आगे जिहाद लफ़्ज़ चस्पा करके मीडिया ने बहुसंख्यक समाज के ज़हन में यह बात बैठा दी कि मुसलमान जो भी सांस ले रहा है, वह सिर्फ और सिर्फ दूसरों को तबाह करने के लिए है। यह लफ़्ज़ों का आतंकवाद नहीं तो और क्या है, जहां एक पूरी की पूरी कौम के जज़्बातों और उनके मज़हब को रोज़ाना शाम को सरेआम नीलाम किया जाता है? और अब बात करते हैं सियासत और मीडिया के सबसे चहेते लफ़्ज़ की—‘तुष्टिकरण’। यह वह लफ़्ज़ है जिसका इस्तेमाल करके इस मुल्क के बहुसंख्यक समाज को यह यकीन दिलाया गया है कि उनका हक़ मारकर मुसलमानों को दिया जा रहा है। टीवी की बहसों में रोज़ाना चीख-चीख कर यह नैरेटिव गढ़ा जाता है कि इस देश में मुसलमानों को बहुत सहूलियतें मिल रही हैं, सरकारें उन्हें सिर पर बिठा रही हैं, और उनके लिए खज़ाने के मुंह खोले जा रहे हैं। जबकि अगर आप टीवी की स्क्रीन से नज़रें हटाकर ज़मीन की हकीकत को देखें, तो सच्चाई बिल्कुल उलट और बेहद खौफनाक नज़र आती है।

सच्चाई तो यह है कि सरकारी रिपोर्टें चीख-चीख कर गवाही देती हैं कि तालीम हो, रोज़गार हो, या सरकारी नौकरियां, मुल्क का मुसलमान आज भी सबसे निचली पायदान पर खड़ा है। जिन मोहल्लों में मुसलमान रहते हैं, वहां आज भी ढंग के अस्पताल, स्कूल और पक्की सड़कें नहीं हैं। अगर वाक़ई हमारा तुष्टिकरण हुआ होता, तो क्या आज हमारी नई नस्ल रिक़शा चलाने या पंचर जोड़ने को मजबूर होती? लेकिन मीडिया को इन ज़मीनी हकीकतों से कोई सरोकार नहीं है। तुष्टिकरण का लफ़्ज़ इसलिए गढ़ा और उछाला गया ताकि बहुसंख्यक समाज के दिल में एक झूठी असुरक्षा पैदा की जा सके। क्योंकि जब बहुसंख्यक समाज खुद को पीड़ित महसूस करता है, तो उसके अंदर का गुस्सा और नफरत सीधे तौर पर अल्पसंख्यक के खिलाफ निकलती है। इस एक लफ़्ज़ ने सदियों से एक साथ रहने वाले पड़ोसियों के दिलों में ऐसी खटास पैदा कर दी है कि आज लोग एक-दूसरे को सिर्फ शक्की नज़रों से देखते हैं। जब हम इन लफ़्ज़ों की हकीकत को समझते हैं, तो एक बात बिल्कुल साफ हो जाती है। न्यूज़ चैनलों की अदालत में इस्तेमाल होने वाले ये शब्द कोई भूल-चूक या ज़बान की फिसलन नहीं हैं। यह एक बहुत ही ठंडे दिमाग से तैयार किया गया ज़हनी हथियार है। लफ़्ज़ों का यह खेल इसलिए खेला जाता है ताकि सोचने-समझने वाले दिमागों को सुन्न किया जा सके। जब आप किसी इंसान के कान में रोज़ाना एक ही झूठ ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाते हैं, तो एक वक्त के बाद वह झूठ उसके दिमाग में सच बनकर बैठ जाता है। आज एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान का सबसे बड़ा दर्द यह नहीं है कि वह गरीब है या उसे तरक्की के मौके नहीं मिल रहे। उसका सबसे बड़ा दर्द यह है कि उसे अपने ही मुल्क में, अपनी ही ज़बान के इन छीने हुए लफ़्ज़ों का सामना रोज़ाना करना पड़ता है। जब वो अपने दफ़्तर जाता है, तो उसे अपने ही साथियों की नज़रों में वो सवाल दिखाई देते हैं जो रात को टीवी एंकर ने अपनी बहस में उछाले थे। उसे अपनी हर आम सी हरकत, अपने लिबास, और अपने नाम के लिए सफाइयां पेश करनी पड़ती हैं। मीडिया ने इन लफ़्ज़ों के ज़रिए एक ऐसी ना दिखने वाली जेल तैयार कर दी है, जिसकी सलाखें लोहे की नहीं, बल्कि नफरत और शक की हैं, और हर आम मुसलमान इस जेल में बिना कोई जुर्म किए कैद है। हमें यह बात बहुत गहराई से समझनी होगी कि जब तक हम इन लफ़्ज़ों के इस खौफनाक खेल को बेनकाब नहीं करेंगे, तब तक हम टीवी स्क्रीन पर गढ़ी गई इस अदालत से कभी बरी नहीं हो पाएंगे।

हमें अपनी ज़बान, अपने लफ़्ज़ और अपने असल मायने वापस छीनने होंगे। मुल्क के हर उस नागरिक को, जो इंसानियत और जम्हूरियत में यकीन रखता है, यह समझना होगा कि ये लफ़्ज़ अब सिर्फ लफ़्ज़ नहीं रहे, ये समाज को बांटने वाली वो कुल्हाड़ी बन चुके हैं जिसके वार से हमारी गंगा-जमुनी तहज़ीब के दरख्त रोज़ाना कट रहे हैं। और अगर हमने आज इस लफ़्ज़ों के आतंकवाद को नहीं रोका, तो कल यह खामोशी हमारे वजूद को ही एक झूठी कहानी में तब्दील कर देगी।

चौथा बाब: डिजिटल दौर, सोशल मीडिया और 'व्हाट्सएप यूनिवर्सिटी'

फेक न्यूज़ कैसे काम करती है? नफरत फैलाने का एल्गोरिदम

एक कहावत हुआ करती थी कि झूठ के पांव नहीं होते, वह ज़्यादा दूर तक नहीं चल सकता। लेकिन आज के इस डिजिटल दौर में यह कहावत पूरी तरह से दम तोड़ चुकी है। आज झूठ के पास पांव ही नहीं, बल्कि सबसे तेज़ रफ़्तार वाले पंख हैं, और ये पंख उसे दिए हैं हमारे हाथ में चौबीसों घंटे रहने वाले स्मार्टफोन ने। टीवी न्यूज़ रूम की अदालत से निकलकर अब नफरत का यह कारोबार सीधे हमारी जेबों तक पहुंच चुका है। जब तक टीवी था, तब तक कम से कम यह तसल्ली थी कि रिमोट का बटन दबाकर उसे बंद किया जा सकता था, लेकिन अब जिस स्क्रीन पर हम अपने दोस्तों से बात करते हैं, अपने रिश्तेदारों की तस्वीरें देखते हैं, उसी स्क्रीन पर हमें हर रोज़ नफरत का एक नया डोज़ दिया जा रहा है। इसी खामोश लेकिन बेहद खतरनाक ज़हर को आज की दुनिया में 'फेक न्यूज़' कहा जाता है। फेक न्यूज़, यानी झूठी खबर, कोई मासूम सी गलती या किसी की अनजाने में हुई चूक नहीं है। यह एक बाकायदा इंडस्ट्री है, एक बहुत बड़ा और करोड़ों का धंधा है। यह एक ऐसा सोची-समझी साज़िशों का कारखाना है जहां चौबीसों घंटे काम चलता है। इस कारखाने का इकलौता मकसद मुल्क के बहुसंख्यक समाज के ज़हन में एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान का खौफनाक अक्स गढ़ना और उस खौफ को नफरत में तब्दील करना है। इस पूरे खेल को समझने के लिए हमें सबसे पहले उस मशीनरी को समझना होगा जिसे आज की ज़बान में 'एल्गोरिदम' कहा जाता है। सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म चाहे कोई भी हो, उसकी कामयाबी इस बात पर टिकी होती है कि आप उसकी स्क्रीन से कितनी देर तक चिपके रहते हैं। और इंसान की नपसियात (मनोविज्ञान) यह है कि वह अच्छी, सुकून देने वाली और सच्ची बातों से जल्दी ऊब जाता है, लेकिन अगर उसे कोई डरावनी, सनसनीखेज़ या गुस्से से भरी चीज़ दिखाई जाए, तो वह उसे बार-बार देखता है। इसी कमज़ोरी को सोशल मीडिया के एल्गोरिदम ने अपना सबसे बड़ा हथियार बना लिया है। ज़रा तसव्वुर कीजिए, एक आम नौजवान जो दिन भर की थकान के बाद अपना फोन खोलता है। उसकी स्क्रीन पर एक वीडियो आता है जिसमें किसी खास समुदाय के लोग हंगामा कर रहे हैं।

नीचे एक भड़काऊ कैप्शन लिखा है कि मुसलमानों ने फिर से मुल्क का माहौल बिगाड़ दिया। वह नौजवान, जो शायद अंदर से थोड़ा परेशान या भटका हुआ है, उस वीडियो पर रुक जाता है। उसे गुस्सा आता है और वह उस वीडियो को अपने दस दोस्तों को फॉरवर्ड कर देता है। बस, यहीं से वह एल्गोरिदम अपना काम शुरू कर देता है। इस मशीन को समझ आ जाता है कि इस इंसान को नफरत और गुस्से वाली चीज़ें पसंद हैं। अब अगले दिन जब वह अपना फोन खोलेगा, तो मशीन उसे ऐसे ही दस और झूठे वीडियो परोसेगी। धीरे-धीरे वह नौजवान एक ऐसी अंधी गुफा में कैद हो जाता है जहां उसे हर तरफ सिर्फ और सिर्फ मुसलमान एक दुश्मन, एक गद्दार और एक खतरे के रूप में नज़र आने लगता है। मशीन ने उसे एक ऐसी दुनिया में धकेल दिया है जहां सच की कोई जगह नहीं बची है। इस पूरे खेल का सबसे खतरनाक और ज़मीनी हिस्सा है वह चीज़ जिसे हम तंज़ के तौर पर 'व्हाट्सएप यूनिवर्सिटी' कहते हैं। एक वक्त था जब हमारे परिवार के बड़े-बुजुर्ग हमें अच्छी बातें, दुनिया के तजुर्बे और तहज़ीब सिखाया करते थे। लेकिन आज सुबह-सुबह जब व्हाट्सएप पर किसी चाचा, मामा या किसी दूर के रिश्तेदार का मेसेज आता है, तो उसमें दुआ-सलाम के साथ-साथ अक्सर एक ज़हरीला झूठ भी लिपटा होता है। व्हाट्सएप ने नफरत फैलाने के इस काम को इतना आसान कर दिया है कि अब इसके लिए किसी टीवी स्टूडियो या एंकर की भी ज़रूरत नहीं रही। इस यूनिवर्सिटी में काम कैसे होता है? किसी भी दूसरे मुल्क, जैसे सीरिया, बांग्लादेश या पाकिस्तान का कोई दस साल पुराना वीडियो उठाया जाता है, जहां कोई जुल्म या हिंसा हो रही हो। उस वीडियो की असली आवाज़ को हटा दिया जाता है और उसके नीचे एक झूठी कहानी लिख दी जाती है कि देखिए, हिंदुस्तान के फलां शहर में मुसलमानों ने क्या कर दिया। यह वीडियो रातों-रात लाखों-करोड़ों मोबाइलों में पहुंच जाता है। जो इंसान इसे देख रहा है, उसके पास इतनी फुरसत या समझ नहीं है कि वह यह चेक करे कि यह वीडियो असली है या नकली। वह बस उस झूठ पर यकीन कर लेता है, उसका खून खौल उठता है और वह उसे आगे बढ़ा देता है। हमारे अपने करीबी रिश्तेदार, जो असल ज़िंदगी में बहुत शरीफ और रहमदिल इंसान हो सकते हैं, वो इस मशीनरी के हाथों की कठपुतली बनकर नफरत के डाकिया बन गए हैं। इस फेक न्यूज़ ने एक आम मुसलमान की ज़िंदगी को एक ऐसे खौफ में तब्दील कर दिया है जिसे शब्दों में बयां करना मुश्किल है।

जब कोई झूठा वीडियो वायरल होता है, तो उसका असर सिर्फ मोबाइल की स्क्रीन तक महदूद नहीं रहता, उसका सीधा असर ज़मीन पर होता है। इसी व्हाट्सएप यूनिवर्सिटी से निकली अफवाहों ने हमारे मुल्क में भीड़ के हाथों मारे जाने (मॉब लिंग) की खौफनाक वारदातों को जन्म दिया है। कोई झूठा मेसेज आता है कि किसी गांव में कुछ लोग बच्चा चुराने आए हैं या गोकशी कर रहे हैं, और एक पूरी की पूरी भीड़ बिना सच्चाई जाने, किसी बेगुनाह को सड़क पर पीट-पीट कर मार डालती है। उस मरने वाले शख्स का सिर्फ इतना ही कसूर होता है कि उसका नाम, उसका लिबास या उसकी दाढ़ी उस स्टीरियोटाइप से मेल खाती है जो फेक न्यूज़ की इस फैक्ट्री ने गढ़ी है। इस एल्गोरिदम और फेक न्यूज़ का सबसे स्याह पहलू यह है कि यह सच को पनपने ही नहीं देता। अगर सुबह कोई झूठी खबर वायरल होती है और लाखों लोगों तक पहुंच जाती है, और शाम को पुलिस या कोई ज़िम्मेदार शख्स यह साबित कर दे कि वह खबर पूरी तरह से झूठी थी, तब भी कोई फायदा नहीं होता। सच की रफ्तार बहुत धीमी होती है। जब तक सच अपने जूते पहनता है, तब तक झूठ पूरी दुनिया का चक्कर लगाकर आ चुका होता है। लोग उस झूठे वीडियो को तो हज़ारों बार शेयर करते हैं, लेकिन उसकी सच्चाई बताने वाले वीडियो को कोई नहीं देखता। लोगों को सच जानने में दिलचस्पी ही नहीं रही, उन्हें तो बस अपने उस गुस्से को सही साबित करने का बहाना चाहिए जो उनके ज़हन में भर दिया गया है। यह फेक न्यूज़ और नफरत का एल्गोरिदम हमारे समाज के ताने-बाने को इतनी बेरहमी से कुतर रहा है कि हमें इसका एहसास भी नहीं हो रहा है। हम अपने ही घरों में बैठकर, अपने ही हाथों से अपने मुल्क की गंगा-जमुनी तहज़ीब का गला घोट रहे हैं। एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान के लिए यह दौर किसी डरावने ख्वाब से कम नहीं है। उसे अब सिर्फ सियासतदानों या टीवी एंकरों से डर नहीं लगता, उसे अब हर उस मोबाइल फोन से खौफ आने लगा है जो राह चलते किसी इंसान के हाथ में होता है। उसे नहीं पता कि कब, कौन सा अजनबी शख्स, किस झूठे मेसेज को पढ़कर, उसे अपना दुश्मन मान बैठेगा। यह डिजिटल दौर, जिसने हमें दुनिया से जोड़ने का वादा किया था, उसने हमें एक-दूसरे से इतना दूर कर दिया है कि अब हम इंसानों को इंसान की तरह नहीं, बल्कि व्हाट्सएप पर आए एक झूठे मेसेज के चश्मे से देखते हैं। फेक न्यूज़ सिर्फ एक झूठ नहीं है, यह हमारे मुल्क की रूह पर किया गया एक ऐसा खामोश हमला है, जो हमारी इंसानियत को अंदर ही अंदर खोखला कर रहा है, और अगर इस नफरत के एल्गोरिदम को हमने जल्द ही नहीं समझा, तो यह हमारे पूरे वजूद को अपनी इस डिजिटल स्क्रीन की आग में जलाकर खाक कर देगा।

पुराने और दूसरे देशों के वीडियो को कैसे मुसलमानों से जोड़ा जाता है?

सरहदें इंसानों को रोक सकती हैं, उनके सफर पर पहरा बिठा सकती हैं, लेकिन नफरत की कोई सरहद नहीं होती। आज के दौर में यह बात जितनी सच है, उतनी ही खौफनाक भी। हम अक्सर सोचते हैं कि सीरिया की किसी उजड़ी हुई सड़क, अफगानिस्तान के किसी पहाड़, या म्यांमार के किसी सुलगते हुए गांव में होने वाले किसी वाकये का हिंदुस्तान के किसी छोटे से मोहल्ले में रहने वाले मुसलमान से क्या वास्ता? ज़मीनी तौर पर कोई वास्ता नहीं है। लेकिन एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान को ज़लील करने और उसे खतरे के तौर पर पेश करने के लिए, साज़िश रचने वालों ने एक नया और निहायत ही शातिर तरीका ईजाद किया है—भूगोल और इतिहास की चोरी। यह किसी अफवाह के फैलने का आम तरीका नहीं है, यह एक बाकायदा विज़ुअल (दृश्यों की) जालसाज़ी है। इस खेल में किसी दूसरे मुल्क की आग को हमारे घरों के आंगन में लाकर रख दिया जाता है। आखिर यह होता कैसे है? नफरत के सौदागर इस बात को बहुत अच्छी तरह समझते हैं कि इंसान सबसे ज़्यादा किस चीज़ से डरता है—अनजान चेहरों और खौफनाक मंज़रों से। दुनिया भर में जहां कहीं भी किसी मुस्लिम बहुल देश में कोई खूनी संघर्ष होता है, कोई हथियारबंद गुट हंगामा करता है, या कोई मजहबी उन्माद होता है, तो वहां के वीडियो को एक कच्चे माल की तरह इस्तेमाल किया जाता है। इन वीडियो को इसलिए चुना जाता है क्योंकि उनमें दिखने वाले लोगों का लिबास, उनके सिर की टोपी, या उनके चेहरों की दाढ़ी एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान के हुलिए से थोड़ी बहुत मेल खाती है। यहीं से लिबास और पहचान को हथियार बनाने का असल काम शुरू होता है। जब वह विदेशी क्लिप एडिटिंग की मेज़ पर पहुंचती है, तो सबसे पहले उस वीडियो से उस मुल्क की पहचान मिटाई जाती है। वीडियो को इस तरह काटा और ज़ूम किया जाता है कि पीछे नज़र आने वाले अरबी, फारसी या बर्मी ज़बान के साइनबोर्ड छुप जाएं। वहां की इमारतों या सड़कों का नज़ारा स्क्रीन से गायब कर दिया जाता है, ताकि किसी को यह अंदाज़ा न हो कि यह ज़मीन हिंदुस्तान की नहीं है। इसके बाद उस क्लिप की असली आवाज़—चाहे वो पश्तो हो, अरबी हो या कोई और ज़बान—उसे खामोश कर दिया जाता है। उसकी जगह पर बहुत ही चालाकी से हिंदी या किसी मुकामी ज़बान की गालियां, भड़काऊ नारे और चीख-पुकार डब कर दी जाती है।

अब स्क्रीन पर जो मंज़र है, वह पूरी तरह से एक झूठी हकीकत में तब्दील हो चुका है। लिबास उस वीडियो के किरदारों का है, लेकिन पहचान हमारे मुल्क के मुसलमानों की थोप दी गई है। जब यह वीडियो मुल्क के आम अवाम तक पहुंचता है, तो उसके नीचे बस एक छोटी सी इबारत लिखी होती है —“देखिए, फलां राज्य में मुसलमानों ने क्या कर दिया।” इस विजुअल जालसाज़ी का सबसे गहरा ज़ख्म हमारी उस तारीख (इतिहास) और हमारे पुरखों के उस फैसले पर लगता है, जो हमने बंटवारे के वक्त लिया था। हमारे बुजुर्गों ने एक मज़हबी मुल्क को ठुकराकर एक सेक्युलर और जम्हूरी मुल्क को अपनी सरज़मीन के तौर पर चुना था। एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान ने कभी पाकिस्तान, अफगानिस्तान या सीरिया की ज़हनीयत (मानसिकता) को अपनाया ही नहीं। लेकिन कितनी बड़ी बेबसी है कि आज काबुल या दमिश्क के किसी अनजान मुज़रिम के हाथ में दिखने वाली बंदूक का ज़िम्मेदार, लखनऊ, पटना या हैदराबाद में बैठे उस मुसलमान को ठहराया जा रहा है जिसने ज़िंदगी में कभी अपने ज़िले की सरहद तक पार नहीं की। इस साज़िश के ज़रिए हमारे वजूद को ग्लोबल आतंकवाद और कट्टरपंथ के साथ नत्थी कर दिया गया है। जब कोई बहुसंख्यक समाज का इंसान अपने फोन पर किसी दूसरे मुल्क के जाहिल और खूंखार लोगों की हरकतें देखता है, तो वीडियो में मौजूद टोपी या दाढ़ी की वजह से, वह अवचेतन मन में उस खौफनाक चेहरे को अपने पड़ोस में रहने वाले किसी शरीफ और मेहनतकश मुसलमान के चेहरे पर फिट कर देता है। उसे लगने लगता है कि अगर वहां के मुसलमान ऐसे हैं, तो मेरे पड़ोस का मुसलमान भी अंदर से ऐसा ही होगा। एक और तरीका जो बहुत इस्तेमाल होता है, वो है पुराने वक्त के वीडियो को आज का बताना। हिंदुस्तान के अंदर ही अगर सालों पहले कहीं कोई पुलिस की मॉक ड्रिल (अभ्यास) हुई हो, किसी फिल्म की शूटिंग का कोई हिस्सा हो, या कोई पुराना नुक्कड़ नाटक हो—उसे भी एडिट करके एक ताज़ा बगावत के तौर पर पेश कर दिया जाता है। मुल्क के किसी हिस्से में अगर दो पड़ोसियों के बीच नाली या ज़मीन को लेकर कोई आम सा झगड़ा हुआ हो, और उसमें एक पक्ष मुसलमान हो, तो उस मामूली से झगड़े को म्यूट करके उसके पीछे ‘जेहाद’ या ‘सांप्रदायिक हमले’ का संगीत और आवाज़ें लगा दी जाती हैं। यह कोई छोटी-मोटी धोखाधड़ी नहीं है। यह एक पूरी की पूरी कौम की शराफत, उसकी वफादारी और उसकी देशभक्ति का सरेआम कत्ल है।

जब आप दूसरे मुल्कों के जुर्म और वहां की जहालत को हमारे कंधों पर डाल देते हैं, तो आप दरअसल हमें हमारे ही मुल्क में एक विदेशी और एक अजनबी दुश्मन साबित करने की कोशिश कर रहे होते हैं। इस जालसाज़ी ने एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान से उसका वो सुकून छीन लिया है, जहां वो बिना किसी खौफ के अपनी ज़मीन पर चल सकता था। अब उसे हर वक्त यह साबित करना पड़ता है कि सरहदों के पार जो खौफनाक शक्लें स्क्रीन पर दिख रही हैं, वो मेरी नहीं हैं, मेरी हकीकत तो मेरे इस मुल्क की मिट्टी में गुंथी हुई है।

समाज के अवचेतन मन का लगातार ब्रेनवॉश

इंसान का दिमाग एक बेहद पेचीदा और रहस्यमयी जगह है। हम दिन भर में जो कुछ भी देखते, सुनते या पढ़ते हैं, हमें लगता है कि हम अपनी मर्जी से उसे भूल जाते हैं या याद रखते हैं। लेकिन हकीकत इसके बिल्कुल उलट है। हमारे ज़हन का एक बहुत गहरा और खामोश हिस्सा होता है, जिसे मनोविज्ञान की ज़बान में अवचेतन मन कहा जाता है। यह हिस्सा कभी सोता नहीं है। यह एक ऐसे स्पंज की तरह है जो हमारे इर्द-गिर्द मौजूद हर इशारे, हर रंग और हर आवाज़ को चुपचाप सोखता रहता है। और सबसे खौफनाक बात यह है कि इंसान के ज़्यादातर फैसले, उसके डर और उसकी पसंद-नापसंद इसी खामोश हिस्से से तय होते हैं। आज के इस डिजिटल दौर में एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान के खिलाफ जो सबसे बड़ी और सबसे खतरनाक साज़िश रची गई है, वह किसी सड़क या संसद में नहीं, बल्कि इसी अवचेतन मन के अंधेरे कमरों में रची गई है। इसे हम लगातार चलने वाला ब्रेनवॉश कह सकते हैं। यह ब्रेनवॉश कोई एक दिन का काम नहीं है। कहा जाता है कि अगर पानी की एक बूंद भी पत्थर की किसी एक जगह पर लगातार गिरती रहे, तो वह उस सख्त पत्थर में भी सुराख कर देती है। पिछले कुछ सालों में हमारी स्क्रीन से टपकने वाली नफरत की इन बूंदों ने समाज के ज़हन में ऐसे ही गहरे सुराख कर दिए हैं।

ज़रा सोचिए, यह ब्रेनवॉश काम कैसे करता है? यह बहुत ही खामोश और धीमा ज़हर है। जब मुल्क का कोई आम नागरिक, जो शायद किसी से नफरत नहीं करता, अपने फोन को स्कॉल कर रहा होता है, तो उसके सामने दिन भर में ऐसे दसियों मीम्स, तस्वीरें या छोटी-छोटी बातें गुज़रती हैं जिनमें सीधे तौर पर कुछ नहीं कहा जाता, लेकिन इशारों-इशारों में मुसलमान को एक शक के दायरे में खड़ा कर दिया जाता है। कभी किसी दाढ़ी वाले का मज़ाक उड़ाया जाता है, कभी किसी टोपी वाले को किसी हिंसक घटना से जोड़कर एक व्यंग्य लिख दिया जाता है। उस वक्त वह नागरिक शायद उस तस्वीर को देखकर बस मुस्करा देता है या उसे अनदेखा कर देता है। उसे लगता है कि उसने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। लेकिन उसका अवचेतन मन उस ज़हरीले संदेश को चुपचाप एक फाइल में सेव कर लेता है। जब महीनों और सालों तक यह सिलसिला बिना रुके चलता है, तो समाज की नफ़्सीयात (मानसिकता) पूरी तरह से बदल जाती है।

इस मुसलसल ब्रेनवॉश का नतीजा यह होता है कि नफरत एक आदत में तब्दील हो जाती है, और इंसान को इसका एहसास भी नहीं होता। इसका सबसे दर्दनाक असर ज़मीन पर, हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में देखने को मिलता है। आप किसी ट्रेन में सफर कर रहे हैं। आपके सामने वाली सीट पर एक बहुत ही शरीफ और पढ़ा-लिखा शख्स बैठा है। आप अपना नाम बताते हैं, और अचानक आप महसूस करते हैं कि उसकी आंखों के भाव पल भर के लिए बदल गए हैं। वह आपसे लड़ता नहीं है, आपको बुरा-भला भी नहीं कहता, लेकिन उसकी बातचीत में एक अजीब सी दूरी, एक खामोश सी हिचकिचाहट आ जाती है। यह हिचकिचाहट कहां से आई? यह उसी अवचेतन मन का नतीजा है, जिसे स्क्रीन ने बरसों से यह फीड किया है कि इस नाम या इस पहचान वाले लोग आपके लिए खतरा हो सकते हैं।

इस ब्रेनवॉश ने हमारे समाज से 'इंसान' को छीन लिया है और हर शख्स को महज़ एक 'पहचान' का पुतला बना दिया है। पहले जब कोई मुसलमान घर किराए पर लेने जाता था, तो मकान मालिक यह देखता था कि इंसान कैसा है, क्या काम करता है, शरीफ है या नहीं। लेकिन आज जब कोई मुसलमान किसी गैर-मुस्लिम मोहल्ले में मकान ढूँढने जाता है, तो सामने वाले का अवचेतन मन फौरन उसे उन खौफनाक तस्वीरों और खबरों से जोड़ देता है जो उसने बरसों से अपनी स्क्रीन पर देखी हैं। वह मकान मालिक शायद खुद बुरा इंसान न हो, लेकिन उसके ज़हन में बैठाया गया डर इतना गहरा हो चुका है कि वह एक अच्छे इंसान को भी सिर्फ उसके नाम की वजह से वापस लौटा देता है। यह डर कुदरती नहीं है, यह बाकायदा खेती करके उगाया गया डर है। एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान के लिए इस ब्रेनवॉश का सामना करना एक ऐसी जंग लड़ने जैसा है, जिसमें दुश्मन नज़र ही नहीं आता। अगर कोई आपको सामने से गाली दे, या आपसे हाथापाई करे, तो आप कानून का दरवाज़ा खटखटा सकते हैं या अपना बचाव कर सकते हैं। लेकिन आप उस शक और खौफ का क्या इलाज करेंगे जो सामने वाले के ज़हन में बहुत ही खामोशी से बिठा दिया गया है? आप कैसे साबित करेंगे कि मैं वो खौफनाक चेहरा नहीं हूँ जो तुम्हारे दिमाग में किसी ने गढ़ दिया है? आज हालात यह हैं कि हमें अपनी शराफत, अपनी वफादारी और अपने आम इंसान होने का सबूत रोज़ाना देना पड़ता है। जब हम किसी भीड़-भाड़ वाली जगह पर जाते हैं, या किसी नए दफ्तर में काम शुरू करते हैं, तो हमें महसूस होता है कि हमें एक अदृश्य कसौटी पर परखा जा रहा है।

हमें बहुत संभलकर बोलना पड़ता है, बहुत संभलकर चलना पड़ता है, ताकि हमारे किसी भी लफ़्ज़ या हरकत से सामने वाले का वह अवचेतन डर सच साबित न हो जाए। यह एक ऐसी ज़हनी घुटन है जिसने हमारी आज़ादी और हमारे आत्मविश्वास को बहुत गहरी चोट पहुंचाई है। यह जो ब्रेनवॉश किया जा रहा है, इसने मुल्क की उस मिट्टी को बंजर कर दिया है जिसमें कभी मेल-मिलाप और भाईचारे के दरख्त उगते थे। जब समाज का अवचेतन मन बीमार हो जाता है, तो सिर्फ अल्पसंख्यक ही तकलीफ नहीं उठाता, बल्कि पूरा समाज अपनी इंसानियत खोने लगता है। लोग एक-दूसरे से कटे-कटे रहने लगते हैं। शक इस कदर हावी हो जाता है कि बरसों पुराने दोस्त भी सियासत या धर्म के नाम पर एक-दूसरे से नज़रें चुराने लगते हैं।

नफरत का यह खामोश वायरस हमारी रगों में इतनी गहराई तक उतार दिया गया है कि अब हमें इस बात का एहसास तक नहीं होता कि हम कब इंसान से एक मशीन बन गए। वह मशीन जिसे रिमोट कंट्रोल के ज़रिए जब चाहे भड़काया जा सकता है, और जब चाहे डराया जा सकता है। समाज के अवचेतन मन का यह कत्ल किसी भी दंगे या फसाद से कहीं ज़्यादा खौफनाक है, क्योंकि इमारतें अगर जल जाएं तो दोबारा खड़ी की जा सकती हैं, लेकिन जब किसी मुल्क का ज़हन और उसकी रूह मैली हो जाए, तो उसे साफ होने में कई नस्लें गुज़र जाती हैं। और यही वह सबसे कड़वा सच है, जिसका सामना आज हर हिंदुस्तानी मुसलमान अपनी खामोश आंखों से कर रहा है।

पाँचवाँ बाब: ज़मीनी हकीकत – स्क्रीन की आग, सड़कों का खौफ

टीवी और मोबाइल की नफरत का एक आम मुसलमान की ज़िंदगी पर क्या असर पड़ रहा है?

जब हम किसी स्क्रीन पर आग सुलगती हुई देखते हैं, तो हमें लगता है कि वह आग महज़ कुछ तस्वीरों और आवाज़ों तक महदूद है। हमें लगता है कि टीवी या मोबाइल को बंद कर देने से वह आग भी बुझ जाएगी। लेकिन हकीकत इसके बिल्कुल उलट और बेहद खौफनाक है। स्क्रीन की यह आग जब शीशे की सरहदों को तोड़कर ज़मीन पर उतरती है, तो वह इंसानों को, उनके रिश्तों को और उनके सुकून को राख कर देती है। आज एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान की ज़िंदगी इसी राख के ढेर पर खड़ी है, जहाँ उसे हर रोज़ अपने वजूद, अपनी हिफाज़त और अपनी पहचान की एक नई और खामोश जंग लड़नी पड़ रही है। अगर आप टीवी और मोबाइल से फैलाई जा रही इस नफरत के ज़मीनी असर को समझना चाहते हैं, तो किसी न्यूज़ स्टूडियो में मत जाइए। आप मुल्क के किसी भी आम मुसलमान के दिल में झाँककर देखिए। आपको वहाँ एक अजीब सी घुटन और एक ऐसा खौफ नज़र आएगा जिसका कोई नाम नहीं है। यह खौफ किसी दंगे या फसाद का नहीं है, बल्कि यह रोज़मर्रा की ज़िंदगी छिन जाने का खौफ है। इस नफरत ने सबसे पहला और सबसे गहरा वार हमारे आत्मविश्वास पर किया है। एक वक्त था जब हम अपने मोहल्ले से बाहर निकलते थे, बाज़ारों में जाते थे या ट्रेनों में सफर करते थे, तो हम सिर्फ एक मुसाफिर, एक ग्राहक या एक आम इंसान होते थे। लेकिन आज जब एक मुसलमान सफर पर निकलता है, तो उसके कंधों पर एक ना दिखाई देने वाला भारी बोझ होता है। जब वह किसी बस या ट्रेन में अपनी सीट पर बैठता है, तो उसके ज़हन में एक अजीब सी कश्मकश चल रही होती है। वह अपने साथ बैठे अजनबी मुसाफिरों की नज़रों को पढ़ने की कोशिश करता है। वह सोचता है कि क्या इन लोगों ने भी रात को वही टीवी शो देखा होगा? क्या इनके मोबाइल पर भी मेरे खिलाफ कोई झूठा मेसेज आया होगा? इस खौफ ने हमारी नफिसियात को इस कदर जकड़ लिया है कि अब हम सार्वजनिक जगहों पर अपनी पहचान छुपाने या उसे हल्का करने को मजबूर हो गए हैं।

यह कोई मामूली बात नहीं है कि एक इंसान को अपने ही मुल्क में, अपनी ही ज़मीन पर अपने नाम और अपने लिबास से खौफ़ आने लगे। सफर के दौरान अगर घर से फोन आ जाए, तो लोग अपनी आवाज़ धीमी कर लेते हैं, आम बोलचाल के वो उर्दू लफ्ज़ जो कभी हमारी ज़बान की मिठास हुआ करते थे, उन्हें बोलने से कतराने लगे हैं। उन्हें डर लगता है कि कहीं उनके मुंह से निकला कोई एक लफ्ज़, कोई एक सलाम या खुदाहाफिज़ आस-पास बैठे लोगों के ज़हन में किसी शक की चिंगारी को हवा न दे दे। हमारी औरतें, जो नकाब या हिजाब पहनकर बेखौफ़ होकर बाज़ारों में जाया करती थीं, अब घर से बाहर कदम रखते हुए एक अनजाने खौफ़ का शिकार रहती हैं। यह खौफ़ किसी कानून का नहीं है, यह उस ज़हरीली भीड़ का खौफ़ है जिसे मोबाइल की स्क्रीन ने तैयार किया है। इस ज़मीनी हकीकत का सबसे दर्दनाक और स्याह पहलू हमारी नई नस्ल, हमारे बच्चों से जुड़ा है। बच्चों की दुनिया बहुत मासूम होती है, उन्हें हिंदू-मुस्लिम या सियासत की कोई समझ नहीं होती। लेकिन स्क्रीन की इस नफरत ने हमारे बच्चों से उनकी मासूमियत भी छीन ली है। आज जब कोई मुस्लिम बच्चा स्कूल जाता है या मैदान में खेलने उतरता है, तो उसे ऐसे अजीब और चुभने वाले सवालों का सामना करना पड़ता है जिनके जवाब उसके पास नहीं होते। उसके साथ खेलने वाले दूसरे बच्चे, जिन्होंने शायद अपने घर के टीवी या मोबाइल पर कोई ज़हरीली बात सुनी होती है, अनजाने में ही वो ज़हर उस मुस्लिम बच्चे के सामने उगल देते हैं। ज़रा उस मुस्लिम बाप की बेबसी का तसव्वुर कीजिए, जिसका आठ या दस साल का बच्चा स्कूल से लौटकर पूछता है कि “अबू, क्या हम वाकई ग़दर हैं? क्या हम बुरे लोग हैं?” उस बाप के पास अपने बच्चे को देने के लिए कोई जवाब नहीं होता। वह अपने बच्चे को कैसे समझाए कि यह नफरत तुम्हारी वजह से नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा बाज़ार है जिसमें तुम्हारी पहचान को बेचा जा रहा है। स्क्रीन की इस नफरत ने बचपन की उन खेल-कूदों और उस बेफिक्री को मार डाला है, और हमारे बच्चों के कच्चे ज़हनों में बहुत कम उम्र में ही एक खौफनाक असुरक्षा की भावना भर दी है। ज़िंदगी पर पड़ने वाला एक और बड़ा असर हमारे रोज़गार और हमारी सामाजिक हैसियत पर हुआ है। टीवी और मोबाइल की नफरत ने बहुत ही खामोशी से एक आर्थिक और सामाजिक बहिष्कार का माहौल बना दिया है। आज जब कोई मुस्लिम नौजवान किसी नए शहर में नौकरी के लिए जाता है और किराए पर कमरा ढूँढता है, तो उसके नाम को सुनकर बंद होने वाले दरवाज़े इस ज़मीनी हकीकत की सबसे बड़ी गवाही हैं।

लोग सीधे तौर पर कुछ नहीं कहते, बस एक बहाना बना देते हैं। लेकिन उस नौजवान को पता होता है कि यह दरवाज़ा उसके नाम की वजह से बंद हुआ है।

सड़कों पर ठेला लगाने वाले, छोटी-मोटी दुकान चलाने वाले या डिलीवरी का काम करने वाले आम मुसलमानों की ज़िंदगी अज़ाब बन चुकी है। उन्हें हर वक्त यह डर सताता है कि कब कोई भीड़ उन्हें रोक ले, कब उनसे उनका नाम पूछकर उनके साथ ज़्यादती कर दी जाए। नाम पूछकर मार-पीट करने की जो घटनाएं हम अक्सर सुनते हैं, वो सिर्फ एक खबर नहीं होतीं, वो करोड़ों मुसलमानों के लिए एक जीता-जागता खौफ बन जाती हैं। इस खौफ ने लोगों को अपने ही खोल में सिमटने पर मजबूर कर दिया है। लोग अब उन इलाकों में जाने से डरते हैं जहां उनकी आबादी कम है। मुल्क के अंदर ही ऐसी अदृश्य सरहदें खिंच गई हैं जिन्हें देखा नहीं जा सकता, लेकिन महसूस बहुत गहराई से किया जा सकता है। सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि इस नफरत ने एक आम मुसलमान से उसकी शराफत का हक छीन लिया है। आप चाहे मुल्क के कानून की कितनी ही इज़ात करें, आप ईमानदारी से अपना टैक्स भरें, आप हर सरकारी नियम का पालन करें, लेकिन फिर भी समाज की नज़रों में आपकी देशभक्ति हमेशा शक के दायरे में रहती है। आपको हर दिन, हर पल यह साबित करना पड़ता है कि आप एक अच्छे इंसान हैं। यह हर रोज़ का इम्तिहान एक ऐसी ज़हनी थकान पैदा करता है जो इंसान को अंदर से तोड़ देती है। हम एक ऐसे दौर में पहुंच गए हैं जहां स्क्रीन से निकली हुई नफरत ने ज़मीन पर मौजूद प्यार, भरोसे और भाईचारे की जड़ों में तेज़ाब डाल दिया है। हमारे हिंदू दोस्त और पड़ोसी भी इस नफरत के साए में उलझ गए हैं। वो जो कल तक हमारे साथ एक ही थाली में खाना खाते थे, आज उनके दिलों में भी मोबाइल के किसी फॉरवर्ड मेसेज ने एक बारीक सी दरार पैदा कर दी है। एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान आज सिर्फ अपनी तरक्की की लड़ाई नहीं लड़ रहा है। उसकी सबसे बड़ी लड़ाई अपने वजूद को, अपने इंसान होने को और अपने आत्मसम्मान को बचाए रखने की लड़ाई है। टीवी की लाल पट्टियों और मोबाइल के ज़हरीले वीडियो ने सड़कों पर जो खौफ का पहरा बिठाया है, उसमें हम रोज़ाना अपनी पहचान को थोड़ा-थोड़ा मिटता हुआ देख रहे हैं। यह एक ऐसा दर्द है जो किसी कैमरे में रिकॉर्ड नहीं होता, किसी न्यूज़ चैनल की बहस का हिस्सा नहीं बनता, लेकिन यह मुल्क की ज़मीन पर रोज़ाना, हर पल एक आम मुसलमान की रूह को छलनी कर रहा है।

नौकरी, मकान और व्यापार में आने वाली दिक्कतें

ज़िंदा रहने के लिए सिर्फ सांसों का चलना काफी नहीं होता। एक इंसान को मुकम्मल ज़िंदगी गुज़ारने के लिए इज़्ज़त की रोटी, सिर छुपाने के लिए एक महफूज़ छत और अपने बच्चों के मुस्तकबिल को संवारने के लिए रोज़गार की ज़रूरत होती है। लेकिन जब किसी मुल्क की आबोहवा में नफरत का ज़हर घोल दिया जाए, तो सबसे पहला वार इंसान की इसी बुनियादी ज़िंदगी पर होता है। आज एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान का सबसे बड़ा दर्द यह नहीं है कि उसे सियासत में हिस्सेदारी नहीं मिल रही, बल्कि उसका असली अज़ाब वह खामोश और न दिखाई देने वाली दीवार है जो उसके घर, उसकी नौकरी और उसके कारोबार के इर्द-गिर्द खड़ी कर दी गई है। यह एक ऐसा आर्थिक और सामाजिक बहिष्कार है, जिसका कोई सरकारी फरमान तो नहीं है, लेकिन समाज ने इसे अपनी अलिखित किताब का सबसे कड़ा कानून बना लिया है। शुरुआत मकान से करते हैं, क्योंकि हर इंसान के दिन का आगाज़ और थकावट का अंजाम उसी चौखट पर होता है जिसे वह अपना घर कहता है। आज के दौर में एक मुसलमान के लिए किसी अच्छे, साफ-सुथरे और मिले-जुले मोहल्ले में किराए का मकान या फ्लैट ढूँढना किसी पहाड़ को तोड़ने से कम नहीं है। जब कोई पढ़ा-लिखा मुस्लिम नौजवान या कोई शरीफ परिवार किसी नए शहर में घर की तलाश में निकलता है, तो उसके लिबास, उसकी डिग्रियों या उसकी शराफत की कोई कीमत नहीं होती। दलाल या मकान मालिक का पहला सवाल होता है— “नाम क्या है?” यह सवाल महज़ एक औपचारिकता नहीं है, यह एक कसौटी है जिस पर आपकी पूरी हैसियत तौली जाती है। जैसे ही नाम से मुस्लिम पहचान ज़ाहिर होती है, सामने वाले के चेहरे के भाव फौरन बदल जाते हैं। सीधे मुंह कोई नफरत का इज़हार नहीं करता, क्योंकि हमारे समाज ने नफरत को भी बहुत तहज़ीब के लिबास पहना दिए हैं। बड़े ही मीठे लहज़े में बहाने गढ़े जाते हैं—“हमारी सोसाइटी का नियम है कि हम इस समुदाय को घर नहीं देते”, “हम सिर्फ शाकाहारी लोगों को मकान किराए पर देते हैं”, या “मकान तो कल ही उठ गया, आप थोड़ा लेट हो गए।” इन खूबसूरत बहानों के पीछे जो कड़वा सच छुपा है, वो एक आम मुसलमान के आत्मसम्मान को अंदर तक छलनी कर देता है। एक बाप जो अपने बच्चों को अच्छी तालीम और एक साफ-सुथरा माहौल देने के लिए किसी पॉश इलाके में रहना चाहता है, उसे मजबूरन वापस उन्हीं तंग और घनी मुस्लिम बस्तियों में धकेल दिया जाता है।

इस तरह की रिहाइशी पाबंदियों ने शहरों के अंदर एक अदृश्य सरहद खींच दी है। हम मुल्क के स्तर पर तो बंटवारे को पीछे छोड़ आए थे, लेकिन आज हमारे शहरों और मोहल्लों के अंदर नए सिरे से बंटवारा हो रहा है। मुसलमानों को खामोशी से यह पैगाम दिया जा रहा है कि तुम्हारी जगह सिर्फ तुम्हारी बस्तियों तक महदूद है, मुल्क की मुख्यधारा के मोहल्लों में तुम्हारा कोई दखल नहीं। मकान के बाद दूसरी सबसे बड़ी जट्टोजहद रोज़गार की है। हर मुस्लिम परिवार अपने पेट काटकर, अपनी ज़मीनें या ज़ेवर बेचकर अपने बच्चों को तालीम दिलाता है। वो ये ख्वाब बुनते हैं कि डिग्रियां हासिल करने के बाद उनका बच्चा किसी अच्छी कंपनी में, किसी बड़े दफ्तर में इज़्ज़त की कुर्सी पर बैठेगा। लेकिन जब वो नौजवान अपना बायोडाटा लेकर बाज़ार में उतरता है, तो उसे एक बेहद सर्द और खौफनाक हकीकत का सामना करना पड़ता है। निजी कंपनियों और कॉर्पोरेट दफ्तरों में एक बहुत ही खामोश छंटनी चल रही है। जब किसी एचआर (मानव संसाधन) डेस्क पर कोई फाइल पहुंचती है, तो कई जगहों पर उम्मीदवार की काबिलियत, उसका तजुर्बा और उसके नंबर देखने से पहले उसका नाम देखा जाता है। अगर नाम किसी खास मज़हब का है, तो उस बायोडाटा को बड़ी खामोशी से नीचे खिसका दिया जाता है। यह कोई कही-सुनी बात नहीं है, बल्कि कई सर्वे और हकीकतें इस बात की गवाही देती हैं कि एक ही जैसी डिग्रियां होने के बावजूद, एक मुस्लिम नाम वाले उम्मीदवार को इंटरव्यू की कॉल आने की गुंजाइश बाकियों के मुकाबले बेहद कम होती है। अगर कोई नौजवान अपनी बेपनाह काबिलियत के दम पर किसी तरह नौकरी हासिल कर भी ले, तो दफ्तर के अंदर उसकी लड़ाई खत्म नहीं होती। वहां उसे एक अजीब से अदृश्य दबाव का सामना करना पड़ता है। उसे हर वक्त अपनी शराफत, अपनी वफादारी और अपनी आधुनिकता का सबूत देना पड़ता है। लंच के वक्त अगर वो अपने साथियों के साथ बैठता है, तो उसे बहुत संभलकर लफ्ज़ों का चुनाव करना होता है। उसे डर रहता है कि उसकी कोई भी बात, उसका कोई भी नज़रिया, उसके साथियों के ज़हन में बैठे उस खौफ या शक को पुख्ता न कर दे। यह ज़हनी घुटन इंसान की रचनात्मकता (क्रिएटिविटी) को मार देती है। वो काम करने नहीं जाता, बल्कि रोज़ाना अपनी पहचान से लड़ने जाता है। अब बात करते हैं व्यापार और कारोबार की। मुसलमान हमेशा से एक मेहनतकश कौम रही है। दस्तकारी से लेकर बड़े कारखानों तक, इस मुल्क के बाज़ारों में उनकी एक अहम जगह हुआ करती थी।

लेकिन आज कारोबार के मैदान में भी एक अघोषित और खामोश बायकॉट की लहर चल रही है। छोटी दुकानों और रेहड़ी-पटरी वालों की बात करें, तो उनके हालात सबसे ज़्यादा दर्दनाक हैं। सब्जी बेचने वाले, फल बेचने वाले या फेरी लगाकर अपना पेट पालने वाले गरीब मुसलमानों से अक्सर उनका नाम पूछा जाने लगा है। मुल्क के कई हिस्सों में बाकायदा पर्चे बांटे जाते हैं और लोगों को यह कसम दिलाई जाती है कि फलां समुदाय के लोगों से कोई सामान न खरीदा जाए। बड़े कारोबारियों का दर्द इससे भी ज़्यादा गहरा है। किसी मुस्लिम व्यापारी के लिए आज किसी प्राइम लोकेशन (मुख्य बाज़ार) में दुकान या शोरूम खरीदना लगभग नामुमकिन कर दिया गया है। अगर वो कोई ज़मीन खरीदना भी चाहे, तो आस-पास के लोग एकजुट होकर विरोध शुरू कर देते हैं। बैंकों से कर्ज़ लेने में, बड़े ठेके हासिल करने में या नए निवेशकों को अपने साथ जोड़ने में उन्हें एक ना दिखाई देने वाली हिचकिचाहट का सामना करना पड़ता है। ग्राहक अब दुकान का बोर्ड और उसके मालिक का नाम देखकर अंदर कदम रखता है। व्यापार, जिसका कोई मज़हब नहीं होता था, जिसे सिर्फ मुनाफे और क्वालिटी से परखा जाता था, उसे आज पूरी तरह से सांप्रदायिक रंग दे दिया गया है। इस खामोश बायकॉट का असर सिर्फ चंद रुपयों के नुकसान तक महदूद नहीं है। जब आप किसी कौम को रोज़गार और कारोबार से काट देते हैं, तो आप दरअसल उसकी रीढ़ की हड्डी तोड़ रहे होते हैं। एक भूखा और बेबस इंसान तालीम के बारे में नहीं सोच सकता, वो तरक्की के ख्वाब नहीं देख सकता। जब किसी मुस्लिम नौजवान को उसकी डिग्रियों के बावजूद नौकरी नहीं मिलती, तो वह मायूस होकर या तो मुल्क छोड़ने की सोचता है, या फिर किसी छोटे-मोटे काम में अपनी जवानी खपा देता है। नौकरी, मकान और व्यापार में आने वाली ये दिक्कतें महज़ कुछ घटनाएं नहीं हैं। यह एक बहुत ही सोची-समझी ज़मीनी साज़िश है जिसका मकसद एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान को दोयम दर्जे का नागरिक बनाकर रख देना है। उसे यह एहसास दिलाना है कि वह इस मुल्क की ज़मीन, यहां के बाज़ार और यहां के दफ्तरों पर कोई बराबरी का हक़ नहीं रखता। हम आज़ाद मुल्क में आज़ाद सांसें तो ले रहे हैं, लेकिन हमारे पैरों में जो आर्थिक और सामाजिक बेड़ियां डाल दी गई हैं, वो हमारे वजूद को दिन-ब-दिन कमज़ोर कर रही हैं। और एक जम्हूरी मुल्क के लिए इससे बड़ी कोई शर्मिंदगी नहीं हो सकती कि उसका कोई नागरिक अपने नाम की वजह से रोज़ी-रोटी और सिर छुपाने की जगह के लिए दर-दर की ठोकरें खाने पर मजबूर हो।

अपनी पहचान (नाम, लिबास, दाढ़ी) को लेकर बढ़ता खौफ और असुरक्षा

किसी भी इंसान के लिए उसकी शनाख्त यानी उसकी पहचान महज़ कुछ लफ्ज़ों या कपड़ों का नाम नहीं होती। यह उसके वजूद का सबसे गहरा हिस्सा होती है। इंसान का नाम, उसका लिबास, उसके चेहरे की बनावट—ये वो चीज़ें हैं जो उसे उसके पुरखों से, उसकी तहज़ीब से और उसकी ज़मीन से जोड़ती हैं। एक आज़ाद और जम्हूरी मुल्क में हर इंसान को यह बुनियादी हक़ हासिल होता है कि वह अपनी पहचान के साथ बिना किसी खौफ़ के, फख़्र से सिर उठाकर जी सके। लेकिन आज के हिंदुस्तान में, एक आम मुसलमान के लिए यह बुनियादी हक़ एक बहुत बड़ा और खौफनाक इम्तिहान बन चुका है। क्या हो जब आपकी वही पहचान, जो कल तक आपकी इज़्ज़त थी, आज आपके लिए एक खामोश सज़ा और खतरे का सायरन बन जाए? आज मुल्क के किसी भी आम मुसलमान की सबसे पहली कश्मकश उसके अपने नाम से शुरू होती है। एक वक्त था जब नाम सिर्फ बुलाने का ज़रिया था, लेकिन आज एक अरबी या उर्दू नाम एक ऐसी मुहर बन गया है जो पल भर में आपकी पूरी हस्ती को शक के कटघरे में खड़ा कर देता है। आप तसव्वुर कीजिए उस मंज़र का, जब आप किसी बस स्टॉप, रेलवे स्टेशन या अस्पताल की कतार में खड़े हों। अचानक वहां कोई कागज़ों की जांच शुरू होती है या किसी वजह से आपका नाम पुकारा जाता है। जैसे ही एक मुस्लिम नाम हवा में गूंजता है, आस-पास खड़े कई अजनबी चेहरों की निगाहें अचानक आपकी तरफ उठ जाती हैं। उन निगाहों में कोई सवाल नहीं होता, बल्कि एक अजीब सी दूरी और एक अनजाना सा शक होता है। इस खौफ ने हमारी नफ़्सीयात को इस कदर जकड़ लिया है कि सफर के दौरान अगर कोई अजनबी हमसफर नाम पूछ ले, तो ज़बान से नाम निकालते वक्त आवाज़ अनजाने में ही थोड़ी धीमी हो जाती है। यह कोई कुदरती झिझक नहीं है। यह उस नफरत का ज़मीनी खौफ है जिसने हमें यह सोचने पर मजबूर कर दिया है कि कहीं मेरा नाम मेरे लिए किसी मुसीबत का सबब न बन जाए। नाम की इसी असुरक्षा ने बाज़ारों और दफ्तरों में एक नया चलन शुरू कर दिया है, जहां कई मुस्लिम नौजवान अपने नाम का छोटा हिस्सा इस्तेमाल करने लगे हैं, ताकि पहली मुलाकात में उनकी मज़हबी पहचान ज़ाहिर न हो सके। एक इंसान को अपनी हिफाज़त के लिए अपनी ही पहचान से छुपना पड़े, यह किसी भी समाज के लिए एक गहरा ज़ख्म है।

नाम से भी ज़्यादा अगर किसी चीज़ ने मुसलमान की ज़िंदगी को सड़कों पर असुरक्षित किया है, तो वो है उसका लिबास और उसकी दाढ़ी। एक आम मुसलमान के लिए दाढ़ी रखना या सिर पर टोपी पहनना उसकी तहज़ीब, उसकी सुन्नत और उसकी इबादत का निहायत ही पाकीज़ा हिस्सा है। यह उसका अपने खुदा और अपने रसूल से मोहब्बत का एक तरीका है। लेकिन नफरत फैलाने वाली मशीनरी ने इन मुकद्दस निशानियों को बहुत ही बेदर्दी से एक 'खतरे' में तब्दील कर दिया है। आज जब कोई दाढ़ी वाला और टोपी पहना हुआ बुजुर्ग या नौजवान ट्रेन के डिब्बे में दाखिल होता है, तो वहां बैठे कई लोगों के चेहरों पर एक अनकहा खौफ और गुस्सा तैरने लगता है। उसे ऐसे देखा जाता है जैसे वह मुल्क का कोई बहुत बड़ा मुज़रिम हो। मॉब लिंग और भीड़ की हिंसा की ज़्यादातर वारदातों में मरने वाले का सबसे बड़ा और अक्सर इकलौता 'जुर्म' यही होता है कि उसके चेहरे पर दाढ़ी थी या उसने कोई खास लिबास पहन रखा था। इस खौफ ने हमारे घरों में एक ऐसी अजीब और तकलीफदेह बहस छेड़ दी है, जो शायद इससे पहले कभी नहीं हुई थी।

आज जब कोई नौजवान घर से किसी लंबे सफर के लिए निकलता है, तो उसकी मां या उसकी बीवी उसे खामोशी से यह हिदायत देती है कि "सफर में टोपी मत पहनना" या "ट्रेन में नमाज़ पढ़ने से परहेज़ करना।" बहुत से मुस्लिम नौजवानों ने सिर्फ इसी खौफ की वजह से अपनी दाढ़ियां कटवा दी हैं। वो अपने दीन से दूर नहीं हुए हैं, लेकिन उन्हें लगता है कि ज़िंदा रहना और अपने परिवार के लिए सही-सलामत घर लौटना इस वक्त सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी है। ज़रा सोचिए उस घुटन के बारे में, जो एक इंसान महसूस करता है जब उसे अपनी शराफत और अपनी जान बचाने के लिए अपने ही चेहरे की शक्ल बदलनी पड़ती है। हमारी औरतों और बेटियों का दर्द इस खौफ में और भी गहरा है। जो नकाब, बुर्का या हिजाब कभी उनके लिए तहफ़ुज़ और हया की अलामत हुआ करता था, आज उसे सड़कों, कॉलेजों और बाज़ारों में एक सियासी निशान की तरह देखा जाने लगा है। राह चलते हुए उन पर फ़ितियां कसी जाती हैं, उन्हें अजीब नज़रों से घूरा जाता है, और कई बार तो उन्हें खुलेआम ज़लील भी किया जाता है। एक मुस्लिम बाप जब अपनी हिजाब पहनने वाली बेटी को कॉलेज भेजता है, तो उसके दिल में हर पल एक खटका लगा रहता है। वह बेटी, जो अपनी तालीम हासिल करने जा रही है, उसे रोज़ाना अपनी किताबों के साथ-साथ इस ज़हनी दबाव का बोझ भी उठाना पड़ता है कि उसका लिबास समाज की नज़रों में उसे एक 'बाहरी' और 'पिछड़ा' इंसान साबित कर रहा है।

यह असुरक्षा सिर्फ नाम या लिबास तक महदूद नहीं है। यह असल में हमारे वजूद, हमारे आत्मसम्मान और इस ज़मीन से हमारे जुड़े होने के हक की असुरक्षा है। जब कोई कौम अपनी पहचान छुपाने पर मजबूर हो जाती है, तो इसका मतलब यह होता है कि समाज ने उस कौम को अंदरूनी तौर पर बेदखल कर दिया है। हमें रोज़ाना अपनी वफादारी का, अपनी शराफत का और अपने हिंदुस्तानी होने का इम्तिहान देना पड़ता है, और सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि इस इम्तिहान का पर्चा उन लोगों ने तैयार किया है जिनका खुद इंसानियत से कोई वास्ता नहीं है। अपनी पहचान को लेकर जो यह खौफ हमारे दिलों में बैठाया गया है, वह हमें हमारे ही मुल्क में एक अजनबी और अछूत बना देने की बहुत गहरी साज़िश है। लेकिन इस खौफ के बीच हमें यह भी याद रखना होगा कि जिस दिन हमने डर कर अपनी पहचान को पूरी तरह मिटा दिया, उस दिन नफरत की वह मशीनरी अपनी सबसे बड़ी जंग जीत जाएगी। हमारी दाढ़ी, हमारा नाम, हमारा लिबास और हमारा वजूद किसी के लिए खतरा नहीं है। यह इस मुल्क की रंग-बिरंगी चादर का वो धागा है जिसके बिना यह जम्हूरियत कभी मुकम्मल नहीं हो सकती। और इसी धागे को टूटने से बचाना, आज इस खौफ और असुरक्षा के अंधेरे में हमारी सबसे बड़ी और सबसे सच्ची जद्दोजहद है।

छठा बाब: खुद-एहतेसाबी – हम कहाँ चूके?

मुसलमानों का मीडिया और पत्रकारिता के पेशे से दूर रहना

जब हम दूसरों की तरफ उंगली उठाते हैं, तो यह भूल जाते हैं कि हाथ की बाकी तीन उंगलियां हमारी अपनी तरफ भी इशारा कर रही होती हैं। इसी मुकम्मल सच्चाई को तस्लीम करने का नाम खुद-एहतेसाबी है, यानी अपना खुद का हिसाब करना। इस किताब में हमने अब तक मीडिया की नाइंसाफी, उसके ज़हरीले नैरेटिव और टीवी की अदालतों की बहुत बात की। हमने यह समझा कि कैसे हमें एक साज़िश के तहत मुज़रिम बनाकर पेश किया जा रहा है। लेकिन अब वक्त आ गया है कि हम आईने का रुख अपनी तरफ मोड़ें और खुद से एक बेहद कड़वा, लेकिन ज़रूरी सवाल पूछें—इस पूरी साज़िश के कामयाब होने में हमारी अपनी कितनी बड़ी कोताही है? क्या हमने खुद अपनी खामोशी और अपनी बेरुखी से उस ज़हर को फैलने का रास्ता नहीं दिया? जब हम मुल्क के मीडिया पर हमारे खिलाफ ज़हर उगलने का इल्ज़ाम लगाते हैं, तो हमें यह भी देखना होगा कि उस मीडिया को बनाने और चलाने में हमारी अपनी हिस्सेदारी कितनी है। और यहीं पर हमारी सबसे बड़ी और तारीखी चूक सामने आती है—हमारा सहाफत यानी पत्रकारिता के पेशे से पूरी तरह कट जाना। एक अफ्रीकी कहावत है कि जब तक शेर अपनी कहानी खुद नहीं लिखना सीख लेता, तब तक जंगल की हर कहानी में शिकारी ही हीरो बना रहेगा। हमारे साथ भी बिल्कुल यही हुआ। हमने अपनी कहानी, अपना दर्द और अपना सच बयान करने का हक्क औरों के हाथों में सौंप दिया। और उन्होंने हमारे उस सच को अपने मुनाफे और अपनी नफरत के सांचे में ढाल कर दुनिया के सामने पेश कर दिया। ज़रा अपने घरों, अपने खानदानों और अपने मोहल्लों पर नज़र दौड़ाए। हमारी तालीम का दायरा क्या है? हमारे वालिदैन (माता-पिता) अपने बच्चों के लिए क्या ख्वाब देखते हैं? हर घर में एक ही रट लगी है—बेटा डॉक्टर बन जाए, इंजीनियर बन जाए, चार्टर्ड अकाउंटेंट बन जाए, या कोई सुरक्षित सरकारी नौकरी हासिल कर ले। अगर यह भी मुमकिन न हो, तो वह अपना कोई छोटा-मोटा कारोबार शुरू कर ले। हमने कभी पत्रकारिता को एक इज़्ज़तदार, अहम और ज़रूरी पेशा माना ही नहीं। हमारे समाज ने कलम की ताक़त को बहुत पहले ही कमतर आंक लिया।

हमने सहाफ्त को एक ऐसा काम समझा जिसमें पैसा कम है, खतरे ज़्यादा हैं, और मुस्तकबिल की कोई गारंटी नहीं है। जब भी किसी होनहार नौजवान ने पत्रकारिता की पढ़ाई यानी मास कम्युनिकेशन में जाने की ख्वाहिश ज़ाहिर की, तो अक्सर उसे घर वालों ने यह कहकर हतोत्साहित कर दिया कि "इसमें क्या रखा है? किसी न्यूज़ चैनल के पीछे-पीछे माइक लेकर दौड़ोगे क्या?" इस बेरुखी का नतीजा क्या हुआ? आज जब न्यूज़ चैनलों के बड़े-बड़े वातानुकूलित कमरों (न्यूज़ रूम्स) में हमारे खिलाफ नैरेटिव गढ़ा जाता है, हमारे लिबास, हमारी अज़ान और हमारी देशभक्ति पर सवाल उठाए जाते हैं, तो उस बड़ी सी मेज़ के चारों तरफ हमारा कोई अपना बैठा ही नहीं होता। जब कोई झूठी खबर, कोई अफवाह ब्रेकिंग न्यूज़ बनकर टीवी पर फ्लैश हो रही होती है, तो उस न्यूज़ रूम की टीम में कोई ऐसा शख्स मौजूद नहीं होता जो खड़े होकर एंकर या संपादक से कह सके कि "रुकिए, यह ज़मीनी हकीकत नहीं है। मैं इस समाज से आता हूँ, मैं जानता हूँ कि सच क्या है।" हमारी गैर-मौजूदगी ने झूठ को बिना किसी रुकावट के दौड़ने का खुला मैदान दे दिया। एक दौर था जब मुल्क की आज़ादी से पहले और उसके फौरन बाद, सहाफ्त में हमारा एक बहुत बड़ा और शानदार मुकाम था। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के अखबार 'अल हिलाल' से लेकर कई ऐसे बड़े नाम थे, जिन्होंने अपनी कलम से मुल्क की तकदीर लिखी और अवाम को बेदार किया। उस वक्त उर्दू पत्रकारिता की एक धार थी, जिसका लोहा पूरी हुकूमत मानती थी। लेकिन जैसे-जैसे वक्त बदला, हमने कलम छोड़ दी। हमने यह समझा ही नहीं कि आज के नए दौर में असली जंग सरहदों पर या हथियारों से नहीं, बल्कि ज़हनों और स्क्रीन पर लड़ी जाती है। यह नैरेटिव यानी धारणाओं की जंग है। और जो कौम इस स्क्रीन की जंग से गायब हो जाए, उसे ज़मीन पर भी कोई नहीं बचा सकता। बात सिर्फ पत्रकारों की नहीं है। मीडिया हाउस बनाने, बड़े अखबार निकालने और मज़बूत न्यूज़ पोर्टल चलाने में भी हमारा कोई खास योगदान नहीं रहा। हमारे समाज में सरमायेदारों (पैसे वालों) की कोई कमी नहीं है। बड़े-बड़े कारखाने, स्कूल, अस्पताल और शटरिंग के कारोबार में हमारे लोगों ने खूब पैसा लगाया है। लेकिन जब बात एक ऐसा मीडिया संस्थान खड़ा करने की आई जो हमारी सच्ची आवाज़ बन सके, तो किसी ने आगे बढ़कर पहल नहीं की। बाकी समाजों ने वक्त की नब्ज़ पहचानी। उन्होंने मास कम्युनिकेशन के बड़े-बड़े इदारे (संस्थान) खोले, अपने बच्चों को इस मैदान में उतारा, और न्यूज़ मीडिया में अपना एक मुकम्मल ढांचा तैयार किया।

हमने क्या किया? हमने सिर्फ शिकायतें कीं। हम अपने ड्राइंग रूम में बैठकर टीवी पर गालियां बकते रहे कि देखो, ये एंकर हमारे खिलाफ कितना ज़हर उगल रहा है। लेकिन हमने कभी यह नहीं सोचा कि हम अपना मीडिया क्यों नहीं बनाते? हम अपने होनहार और जहीन बच्चों को एक बेहतरीन और निडर पत्रकार बनने की तालीम क्यों नहीं देते? जब हम मैदान में उतरेंगे ही नहीं, तो मैच जीतने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं? आज हमें इस हकीकत को बहुत गहराई से तस्लीम करना होगा कि लोकतंत्र में आवाज़ का होना ही आपके वजूद की सबसे बड़ी निशानी है। अगर आपकी आवाज़ मीडिया के शोर में शामिल नहीं है, तो आप एक खामोश और बेबस भीड़ से ज़्यादा कुछ नहीं हैं। पत्रकारिता कोई आम पेशा नहीं है, यह समाज का ज़मीर जगाने वाला काम है। जब तक न्यूज़ रूम के अंदर, अखबारों के संपादकीय पन्नों पर और डिजिटल मीडिया के बड़े प्लेटफॉर्म पर हमारी हिस्सेदारी नहीं होगी, तब तक हमारी सफाई कोई और नहीं पेश करेगा।

यह खुद-एहतेसाबी का वक्त है। हमें अपने समाज की सोच को बदलना होगा। हमें अपने बच्चों को सिर्फ सुरक्षित नौकरियों के पीछे भागने से रोककर, उन्हें यह समझाना होगा कि एक अच्छी कलम हज़ार तलवारों से ज़्यादा भारी होती है। हमें उन्हें मास कम्युनिकेशन और पत्रकारिता की आला तालीम दिलानी होगी। क्योंकि जब तक हमारी कलम से हमारे हक की बात नहीं निकलेगी, जब तक हमारे अपने कैमरे ज़मीन का सच दुनिया को नहीं दिखाएंगे, तब तक दूसरों के लाउडस्पीकरों से हमारे खिलाफ सिर्फ नफरत और झूठ की आवाज़ें ही गूंजती रहेंगी। हमने जो जगह खाली छोड़ी है, उसी खाली जगह में आज नफरत ने अपना घर बना लिया है।

हमने अपना पक्ष और अपनी कहानी दुनिया को सही तरीके से बताई?

अदालत चाहे असली हो या समाज और मीडिया की गढ़ी हुई, उसका एक बहुत ही सीधा और कड़ा उसूल होता है। जब कोई शख्स कटघरे में खड़ा होता है, तो उसका सिर्फ बेगुनाह होना काफी नहीं होता। उसे अपनी बेगुनाही साबित करनी पड़ती है, दलीलें देनी पड़ती हैं और अपनी कहानी दुनिया को सुनानी पड़ती है। अगर बेगुनाह शख्स खामोश रहे, या सिर्फ अपने आप से बड़बड़ाता रहे, तो अदालत उसे मुजरिम मानकर सज़ा सुना देती है। मुल्क के बहुसंख्यक समाज और मीडिया की इस अदालत में हिंदुस्तानी मुसलमान के साथ बिल्कुल यही हुआ। लेकिन इस नाइंसाफी का सारा ठीकरा हम सिर्फ दूसरों के सिर नहीं फोड़ सकते। जब हम खुद-एहतेसाबी के इस आईने में झांकते हैं, तो हमें एक बहुत ही चुभने वाला सवाल अपने आप से पूछना पड़ता है—क्या हमने कभी अपनी कहानी, अपना सच और अपना पक्ष दुनिया को सही तरीके से बताने की कोशिश की? ईमानदारी से जवाब तलाशें, तो इसका जवाब ‘नहीं’ में मिलता है। हम एक बहुत ही अजीब सी खुशफहमी में जीते रहे। हमें लगा कि हमारी शराफत, हमारी मेहनत और इस मुल्क की मिट्टी से हमारी वफादारी खुद-ब-खुद दुनिया को नज़र आ जाएगी। हमने सोचा कि हमारे अमल गवाही देंगे, इसलिए हमें अपनी ज़बान से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। हमारी यह खामोशी एक दौर तक तो शायद काम कर गई, लेकिन जब साज़िशों का शोर तेज़ हुआ, तो हमारी यह शराफत और खामोशी हमारी सबसे बड़ी कमज़ोरी बन गई। ज़रा गौर कीजिए कि हमने अपनी बातचीत का दायरा कहाँ तक महदूद रखा। जब हम पर इल्ज़ाम लगे, जब हमारी पहचान को दागदार किया गया, तो हमने अपनी तकलीफें किससे बांटीं? हम अपने घरों के ड्राइंग रूम में बैठे, अपने ही मुस्लिम दोस्तों के साथ चाय पी, और अपनी मजलूमियत का रोना रोते रहे। हमने जुमे की नमाज़ के बाद मस्जिदों के आंगनों में खड़े होकर शिकवे किए। हम अपनों के बीच ही अपनी बेगुनाही साबित करते रहे। लेकिन क्या हमने कभी वो पुल बनाने की कोशिश की, जिससे गुज़र कर हमारी आवाज़ हमारे गैर-मुस्लिम पड़ोसियों, हमारे साथ काम करने वाले हिंदू भाइयों या मुल्क के उस आम नागरिक तक पहुंचती, जिसके ज़हन में हमारे खिलाफ शक का बीज बोया जा रहा था? हमने उस समाज से संवाद करना ही छोड़ दिया जिसके साथ हमें इस मुल्क में जीना है।

हमसे एक और बहुत बड़ी तारीखी भूल ज़बान और बातचीत के माध्यम को लेकर हुई। हमने अपनी हकीकत, अपने मज़हब की खूबियां और अपने दर्द को सिर्फ अपनी ज़बान तक सीमित रखा। हमारा लिटरेचर, हमारे जवाब और हमारी दलीलें ज़्यादातर उर्दू में छपती रहीं, जिन्हें सिर्फ हमारे ही लोग पढ़ सकते थे। मुल्क की जो बहुसंख्यक आबादी हिंदी या दूसरी क्षेत्रीय ज़बानों में पढ़ती थी, उन तक हमारी बात कभी पहुंची ही नहीं। अगर किसी ने 'जिहाद' या 'मदरसा' जैसे लफ्ज़ों का गलत मतलब निकाला, तो हमने उनके बीच जाकर, उनकी ज़बान में, बहुत ही नरमी और दलील के साथ उन्हें समझाने की जहमत नहीं उठाई। हमने यह नहीं बताया कि हम भी उसी तरह अपने बच्चों की तरक्की के ख्वाब देखते हैं जैसे तुम देखते हो। हमने अपनी किताबें, अपने लेख और अपना नज़रिया उन लोगों तक नहीं पहुंचाया जिन्हें इसकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी। हमने खुद को एक ना दिखाई देने वाले खोल में समेट लिया। जब-जब हमारी पहचान पर हमले हुए, हमारा रवैया या तो मुकम्मल खामोशी का रहा, या फिर हम इस कदर जज़्बाती हो गए कि हमने दलील का दामन ही छोड़ दिया। यह हमारी कौम की एक बहुत बड़ी नफ़्सीयाती कमज़ोरी रही है कि हम बहुत जल्दी भड़क जाते हैं। जब कोई हमारे खिलाफ कोई झूठा नैरेटिव गढ़ता है, तो हम शांति से, तथ्यों और दलीलों के साथ उसका जवाब देने के बजाय सड़कों पर उतर कर ज़ोर-ज़ोर से नारे लगाने लगते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि गुस्से और चीख-पुकार में कही गई बात कभी किसी का दिल नहीं बदल सकती। जज़्बात में आकर दिए गए हमारे बयानों ने, उल्टे उन लोगों का ही काम आसान किया जो हमें एक उग्र और कट्टर कौम साबित करना चाहते थे। हमने अपनी कहानी सुनाने के लिए जिस लहज़े का इंतज़ाब किया, वह लहज़ा अक्सर आक्रामक और बचाव की मुद्रा (डिफेंसिव) वाला था। हम भूल गए कि सच को साबित करने के लिए चीखने की नहीं, बल्कि सलीके की ज़रूरत होती है। हमने अपनी कहानी सुनाने का काम दूसरों के भरोसे छोड़ दिया। हमने सोचा कि कोई सियासी रहनुमा, कोई सेक्युलर पार्टी या कोई और हमारे हक में बोलेगा। हमने अपने कंधे दूसरों को दे दिए कि वो हमारी तरफ से वकालत करें। लेकिन सियासत की बिसात पर कोई किसी का सगा नहीं होता। जब उन्हें ज़रूरत हुई, उन्होंने हमारा इस्तेमाल किया, और जब उन्हें नुकसान दिखा, तो उन्होंने खामोशी इस्त्रियार कर ली। हमारी कहानी कभी हमारी अपनी ज़बान से, हमारे अपने चेहरों के साथ मुल्क के सामने आई ही नहीं।

आज अगर एक आम हिंदुस्तानी के ज़हन में मुसलमान की कोई खौफनाक तस्वीर बनी है, तो उसकी एक वजह यह भी है कि हमने उस तस्वीर को बदलने के लिए कोई संजीदा और मुसलसल कोशिश नहीं की। जब कोई आपसे बात नहीं करता, तो आप उसके बारे में वही राय बना लेते हैं जो आपको दूसरे बताते हैं। हमने गैर-मुस्लिम समाज के साथ अपने सामाजिक रिश्तों को सिर्फ औपचारिकता तक महदूद कर दिया। हमने अपने घरों के दरवाज़े उनके लिए उस तरह से नहीं खोले, जिस तरह से खोले जाने चाहिए थे। हमने उन्हें अपने दस्तरख्वान पर बिठाकर, अपनी ज़िंदगी की सादगी और अपनी हकीकत से रूबरू कराने के मौके गंवा दिए।

अपनी खुद-एहतेसाबी के इस पन्ने पर हमें यह तस्लीम करना होगा कि हमारा सच अपनी जगह मुकम्मल था, लेकिन उस सच को दुनिया के सामने पेश करने में हम पूरी तरह नाकाम रहे। हमने अपनी बेगुनाही की फाइल को अपने ही सीने से लगाकर रखा, उसे कभी अवाम की अदालत में पेश ही नहीं किया। अगर हम आज भी सिर्फ यह रोना रोते रहें कि दुनिया हमें गलत समझ रही है, और हम खुद उन्हें सही बात समझाने के लिए एक कदम भी आगे न बढ़ाएं, तो यह हमारी सबसे बड़ी कायरता होगी।

हमें अब यह सीखना होगा कि अपनी कहानी कैसे सुनाई जाती है। हमें जज़्बात को किनारे रखकर, दलील और तहज़ीब की ज़बान अपनानी होगी। हमें उन दरवाज़ों पर दस्तक देनी होगी जो हमारे लिए बंद कर दिए गए हैं, और उन्हें बताना होगा कि हम वो नहीं हैं जो तुम्हें स्क्रीन पर दिखाया जा रहा है। क्योंकि अगर आज भी हमने अपनी कहानी खुद लिखना और सुनाना शुरू नहीं किया, तो दूसरों की गढ़ी हुई झूठी कहानी कल हमारे वजूद का इकलौता सच मान ली जाएगी।

हमारे अपने समाज की कमियां जो दूसरों को उंगली उठाने का मौका देती हैं

दूसरों के गिरेबान में झांकना और उनकी साज़िशों का रोना रोना बहुत आसान होता है। यह एक ऐसा नशा है जो हमें अपनी कमियों से नज़रें चुराने का बहाना दे देता है। लेकिन जब हम खुद-एहतेसाबी के इस मुकाम पर आ ही गए हैं, तो हमें उस कड़वे सच का घूंट भी पीना होगा जिसे हम अक्सर महफिलों में छुपा जाते हैं। हमें यह मानना होगा कि अगर किसी बाहरी ताकत ने हमारी इमारत को कमज़ोर किया है, तो उसकी एक बड़ी वजह यह भी है कि हमारी अपनी बुनियाद में दीमक लग चुकी थी। हमारे अपने समाज की कुछ ऐसी गहरी बीमारियां और कमियां हैं, जिन्होंने न सिर्फ हमें खोखला किया, बल्कि दूसरों को भी हम पर हंसने और उंगली उठाने का पूरा मौका दिया। हमारी सबसे बड़ी और सबसे पुरानी बीमारी है—हमारी आपसी फिरकापरस्ती। हम दिन-रात इस बात का गिला करते हैं कि मुल्क की सियासत और मीडिया हमें बांट रहा है, लेकिन क्या हम अंदर से एक हैं? बिल्कुल नहीं। हमने खुद को इतने मसलकों, फिरकों और खेमों में बांट लिया है कि अब हमें किसी बाहरी दुश्मन की ज़रूरत ही नहीं रही। हमारी मस्जिदें अलग हैं, हमारे मदरसे अलग हैं, और तो और, हमारे कब्रिस्तान भी बंट चुके हैं। जब दुनिया के बाकी समाज चांद और मंगल पर बस्तियां बसाने की तैयारी कर रहे हैं, तब हम इस बात पर लड़ रहे हैं कि किसके अकीदे में खोट है, किसके पीछे नमाज़ जायज़ है और कौन हमारे दायरे से बाहर है। जब एक कौम छोटी-छोटी बातों पर आपस में ही उलझ जाए और एक-दूसरे पर फतवे लगाने लगे, तो दुनिया उसे संजीदगी से कैसे लेगी? हमने अपनी इस अंदरूनी लड़ाई से खुद ही अपना तमाशा बनाया है। दूसरी सबसे बड़ी कोताही हमने तालीम के मैदान में की है। हमारा दीन वो है जिसकी शुरुआत ही 'इकरा' यानी 'पढ़ो' लफज़ से हुई थी। लेकिन आज हकीकत यह है कि तालीम के मामले में हम मुल्क में सबसे निचली पायदान पर खड़े हैं। हमने दीन और दुनिया की तालीम के बीच एक ऐसी झूठी और मनगढ़ंत दीवार खड़ी कर दी है, जिसका कोई वजूद ही नहीं था। हम लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करके आलीशान और संगमरमर की मस्जिदें तो तामीर कर लेते हैं, लेकिन जब उसी मोहल्ले में कोई शानदार स्कूल, कॉलेज या यूनिवर्सिटी बनाने की बात आती है, तो हमारी जेबें खाली हो जाती हैं। हमने अपने बच्चों के हाथों से वो आधुनिक किताबें और हुनर छीन लिया जो उन्हें वक़्त के साथ कदम मिलाकर चलना सिखाते। और जब हमारे बच्चे तालीम के मैदान में पीछे रह गए, तो दूसरों ने उन्हें जाहिल और अनपढ़ कहकर आसानी से हाशिए पर धकेल दिया।

एक और कड़वा सच हमारी आधी आबादी, यानी हमारी औरतों की हैसियत से जुड़ा है। जब मैं घर में अपनी दोनों बेटियों के चेहरों की तरफ देखता हूँ और उनके मुस्तकबिल के ख्वाब बुनता हूँ, तो मेरे ज़हन में यह सवाल हथौड़े की तरह लगता है कि क्या हमारा समाज वाकई हमारी बेटियों को वो मुकाम दे रहा है जो हमारा दीन उन्हें चौदह सौ साल पहले दे चुका है? हकीकत यह है कि हमने अपनी औरतों को रस्मों-रिवाज़ और बेजा पाबंदियों की ज़ंजीरों में जकड़ कर रखा। हमने बेटियों की तालीम से ज़्यादा उनकी शादियों के दिखावे पर पैसा बहाया। जब आप अपनी आधी आबादी को ज़हनी और सामाजिक तौर पर अपाहिज कर देंगे, तो एक सेहतमंद और मज़बूत नस्ल कैसे पैदा होगी? हमारे इसी रवैये ने दूसरों को यह इल्ज़ाम लगाने का मौका दिया कि हम औरतों को दबा कर रखने वाली कौम हैं। इसके अलावा, हमारी एक बहुत बड़ी कमज़ोरी हमारा जज़्बाती होना है। हम एक ऐसी कौम बन चुके हैं जिसमें हिंसा (रणनीति) कम और जज़्बात ज़्यादा हैं। अगर कोई हमें ज़रा सा उकसा दे, तो हम फौरन सड़कों पर उतर आते हैं, आगबबूला हो जाते हैं और बिना सोचे-समझे ऐसा बर्ताव करने लगते हैं जो हमारे ही खिलाफ जाता है। हम यह समझ ही नहीं पाते कि उकसाने वाले का मकसद ही यही था कि हम भड़के और वो हमारी उसी गुस्से वाली तस्वीर को कैमरे में कैद करके पूरी दुनिया को दिखाए। हमने अपने दिमाग से सोचना छोड़ दिया है और सिर्फ जज़्बात में बहकर फैसले लेने लगे हैं। हमारी इसी कमी ने साज़िशकर्ताओं का काम सबसे ज़्यादा आसान किया है। हम अपनी प्राथमिकताओं को भूल चुके हैं। हमारे समाज में दिखावा इस कदर हावी हो गया है कि हम शादियों में, दावतों में और झूठी शान-ओ-शौकत में अपनी गाढ़ी कमाई फूंक देते हैं, लेकिन जब कौम की तरक्की के लिए, किसी गरीब बच्चे की फीस भरने के लिए या कोई बड़ा इदारा (संस्थान) खड़ा करने के लिए चंदा मांगा जाता है, तो हम पीछे हट जाते हैं। हम अपने रहनुमाओं (नेताओं) को भी उनके काम या उनकी समझदारी से नहीं चुनते, बल्कि जो हमारे जज़्बात को जितना ज़्यादा भड़का सकता है, हम उसे अपना उतना ही बड़ा नेता मान लेते हैं। हमें यह बात तस्लीम करनी होगी कि अगर हमारे घर के दरवाज़े और खिड़कियां टूटी हुई हैं, तो बाहर से आने वाली आंधी को हम घर तबाह करने का दोष नहीं दे सकते। दूसरों की साज़िशें अपनी जगह सच हैं, लेकिन जब तक हम अपनी इन अंदरूनी बीमारियों का इलाज नहीं करेंगे, अपनी जहालत, फिरकापरस्ती और जज़्बाती रवैये को खत्म नहीं करेंगे, तब तक दुनिया हम पर यूँ ही उंगली उठाती रहेगी। और उस उंगली का जवाब हम सिर्फ खोखले नारों से नहीं दे सकते, हमें खुद को भीतर से बदलना होगा।

आखिरी बात: आगे का रास्ता और हमारा नज़रिया

मीडिया लिटरेसी: कैसे समझाएं फेक न्यूज़ और प्रोपेगैंडा का सच?

एक वक्त था जब अनपढ़ उसे कहा जाता था जिसे पढ़ना-लिखना नहीं आता था। लेकिन आज के इस डिजिटल दौर में अनपढ़ वह नहीं है जो किताबें नहीं पढ़ सकता, बल्कि असल जाहिल वह है जो अपनी स्क्रीन पर दिखने वाली हर बात को बिना सोचे-समझे सच मान लेता है। हमने इस पूरी किताब में यह तो तफसील से समझ लिया कि झूठ कैसे गढ़ा जाता है और हमारी पहचान पर कैसे हमले हो रहे हैं, लेकिन अब सवाल यह है कि आगे क्या? इस दलदल से निकलने का रास्ता क्या है? इसका इकलौता और सबसे पुख्ता रास्ता है—मीडिया लिटरेसी, यानी मीडिया और सूचनाओं को सही तरीके से समझने और परखने का हुनर। अंधेरे को कोसने से बेहतर है कि एक चिराग जला दिया जाए। हमें अब सिर्फ शिकायतें करने के बजाय समाज में यह चिराग जलाना होगा। सबसे बड़ी चुनौती यह है कि हम उन लोगों को फेक न्यूज़ का सच कैसे समझाएं जो अनजाने में इस प्रोपेगैंडा का शिकार हो चुके हैं? चाहे वह हमारे अपने घर का कोई बुजुर्ग हो जो व्हाट्सएप पर आए हर मेसेज को सच मान लेता है, या हमारा कोई गैर-मुस्लिम दोस्त जिसके ज़हन में हमारे खिलाफ शक पैदा कर दिया गया है। पहला और सबसे अहम उसूल यह है कि झूठ को बेनकाब करते वक्त हमारा लहज़ा हमलावर नहीं होना चाहिए। जब आप किसी को यह बताते हैं कि उसने जो खबर या वीडियो शेयर किया है वह सरासर झूठ है, तो इंसानी फितरत के मुताबिक सामने वाले का गुरुर (ईगो) फौरन जाग जाता है। अगर आप उससे कहेंगे कि “तुम तो जाहिल हो” या “तुम नफरत फैलाने वाले हो”, तो वह सच सुनने के बजाय अपने उस झूठ के बचाव में खड़ा हो जाएगा। बहस जीतना हमारा मकसद नहीं है, हमारा मकसद उस इंसान के ज़हन से उस ज़हर को निकालना है। इसलिए, जब कोई झूठी खबर आपके सामने आए, तो ज़बात से नहीं, हिकमत (रणनीति) से काम लें। उससे बहुत ही नरमी से एक सीधा सवाल पूछें—“भाई, आपने यह बात जहाँ से भी सुनी या देखी, क्या आपको लगता है कि यह मुमकिन है? क्या आपने इसका कोई और सुबूत देखा है?” जब आप सवाल करते हैं, तो आप दरअसल उसके दिमाग की बंद खिड़कियों को खोलने की कोशिश कर रहे होते हैं। आप उसे सोचने पर मजबूर कर रहे होते हैं।

दूसरी अहम बात यह है कि हमें लोगों को इस प्रोपेगैंडा के पीछे का बिज़नेस मॉडल समझाना होगा। एक आम हिंदुस्तानी कभी यह नहीं चाहता कि कोई दूसरा इंसान उसका इस्तेमाल करे। जब हम अपने पड़ोसियों, दोस्तों या जानने वालों को यह समझाते हैं कि इन सनसनीखेज़ खबरों के ज़रिए दरअसल उनके खौफ और गुस्से को बेचकर कुछ लोग अपना मुनाफा कमा रहे हैं, तो उनकी सोच में एक ठहराव आता है। उन्हें यह एहसास दिलाना ज़रूरी है कि नफरत की यह मशीनरी उन्हें मोहरा बना रही है। जब कोई इंसान यह महसूस कर लेता है कि उसे बेवकूफ बनाया जा रहा है, तो वह अगली बार किसी भी मेसेज पर आसानी से यकीन नहीं करता। अब ज़िम्मेदारी आती है हमारी नई नस्ल की। हमारे जो नौजवान तकनीक और इंटरनेट की अच्छी समझ रखते हैं, उन्हें इस मोर्चे पर सबसे आगे आना होगा। जब भी कोई झूठी खबर वायरल हो, तो सिर्फ मायूस होकर बैठने या गुस्सा करने के बजाय, फौरन इंटरनेट के ज़रिए उस खबर का 'फैक्ट चेक' (सच्चाई की पड़ताल) करें। आज ऐसे कई तरीके और वेबसाइट्स मौजूद हैं जो पल भर में बता देती हैं कि कोई तस्वीर या खबर असल में कब और कहाँ की है। हमारे नौजवानों को चाहिए कि वो उस सच्चाई को मुकम्मल सुबूत और पूरी तहज़ीब के साथ उसी जगह पेश करें जहाँ से झूठ निकला था। झूठ की उम्र बहुत छोटी होती है, बस उसे सच के सामने लाने की देर होती है। हमें लोगों के अंदर 'रुकने और सोचने' की आदत डालनी होगी। हमें यह सिखाना होगा कि जब भी कोई ऐसा मेसेज आए जो आपके अंदर अचानक बहुत तेज़ गुस्सा या खौफ पैदा करे, तो फौरन उस मेसेज को फॉरवर्ड करने से बचें। अपने अंगूठे को स्क्रीन पर रोक लें। दस सेकंड का यह वक्फा (ठहराव) किसी बड़े फसाद को रोक सकता है। जो खबर आपके जज़्बात को भड़का रही है, यकीनन उसे तैयार ही इसी मकसद से किया गया है। अपनी कहानी और अपना सच दुनिया को समझाने के लिए हमें अपने आचरण (किरदार) को भी अपनी सबसे बड़ी दलील बनाना होगा। अगर कोई फेक न्यूज़ यह कहती है कि मुसलमान ऐसे होते हैं, तो आपका अपना साफ-सुथरा और मददगार किरदार उस फेक न्यूज़ की सबसे बड़ी काट होना चाहिए। जब आपका कोई गैर-मुस्लिम पड़ोसी आपके सुख-दुख में, आपकी शराफत में और आपकी इंसानियत में कोई खोट नहीं देखता, तो उसके पास आने वाला कोई भी ज़हरीला मेसेज उस पर असर नहीं करेगा। वह खुद उस मेसेज को यह कहकर डिलीट कर देगा कि "यह झूठ है, क्योंकि मैं जिस मुसलमान को जानता हूँ, वो ऐसा नहीं है।"

मीडिया लिटरेसी सिर्फ कोई तकनीकी हुनर नहीं है, यह आज के दौर में हमारे वजूद को बचाने की सबसे बड़ी ढाल है। हमें अपने स्कूलों में, अपने घरों की बैठकों में और अपनी रोज़मर्रा की गुप्तगू में इस बात को शामिल करना होगा। जब तक हम खुद सच और झूठ को परखने की ताकत पैदा नहीं करेंगे और दूसरों को यह हुनर नहीं सिखाएंगे, तब तक यह प्रोपेगैंडा यूं ही हमारी नस्लों को खोखला करता रहेगा। हमें नफरत के इस तूफान के आगे दीवार नहीं, बल्कि सच की ऐसी रोशनी खड़ी करनी है जिसमें झूठ का कोई भी साया अपनी जगह न बना सके।

अपना नैरेटिव खुद कैसे बनाएं? (अपने खुद के प्लेटफॉर्म और आवाज़ खड़ी करना)

जब तक आप अपनी कहानी खुद नहीं लिखते, तब तक आपकी हकीकत वही मानी जाती है जो नफरत करने वाले आपके बारे में लिखते हैं। इस किताब के सफर में हमने यह बहुत अच्छी तरह समझ लिया है कि हमारी खामोशी, हमारी बेरुखी और दूसरों पर हमारी निर्भरता ने हमें किस खतरनाक मुकाम पर लाकर खड़ा कर दिया है। अब सिर्फ रोने, शिकायतें करने या किसी और की अदालत में अपनी बेगुनाही साबित करने का वक्त गुज़र चुका है। अब वक्त आ गया है कि हम अपनी तारीख का पन्ना खुद पलटें। हमें अपना नैरेटिव, यानी अपनी कहानी और अपना नज़रिया, खुद तैयार करना होगा और उसे पूरी मज़बूती से दुनिया के सामने रखना होगा। अपना नैरेटिव बनाने का मतलब यह कतई नहीं है कि हम भी दूसरों की तरह नफरत की मशीनरी खड़ी कर लें या झूठ का कारोबार शुरू कर दें। ऐसा करना हमारे दीन और हमारी तहज़ीब के बिल्कुल खिलाफ होगा। हमारा नैरेटिव सच, इंसानियत और तालीम की मज़बूत बुनियाद पर खड़ा होना चाहिए। सबसे बड़ा सवाल यह है कि यह होगा कैसे? इसके लिए हमें अपने खुद के प्लेटफॉर्म और अपनी एक आज़ाद और असरदार आवाज़ खड़ी करनी होगी। एक वक्त था जब अपनी आवाज़ दुनिया तक पहुंचाने के लिए करोड़ों रुपयों के स्टूडियो, बड़ी-बड़ी प्रिंटिंग मशीनें और सरकारी लाइसेंस की ज़रूरत होती थी। तब यह बहाना चल जाता था कि हमारे पास इतने साधन नहीं हैं। लेकिन आज हम जिस डिजिटल दौर में सांस ले रहे हैं, उसने हर उस इंसान को एक ताकतवर माध्यम दे दिया है जिसके पास सच बोलने का हौसला है। आज एक छोटा सा मोबाइल फोन और इंटरनेट का कनेक्शन आपको दुनिया के किसी भी बड़े न्यूज़ चैनल के बराबर खड़े होने की ताकत देता है। हमें अपनी इसी ताकत को पहचानना और तराशना है। हमें अपने समाज के होनहार नौजवानों को पत्रकारिता, लेखन, फिल्म मेकिंग और डिजिटल मीडिया की तरफ मोड़ना होगा। जब हमारे जहीन बच्चे यूट्यूब, ब्लॉग्स, पॉडकास्ट और न्यूज़ पोर्टल्स के ज़रिए अपनी बात सलीके और दलील के साथ रखेंगे, तो दुनिया उन्हें सुनने पर मजबूर होगी। हमारे समाज के जो लोग मालदार हैं, जो अपनी झूठी शान-ओ-शौकत, बड़ी-बड़ी इमारतों और दावतों में पैसा पानी की तरह बहाते हैं, उन्हें अब अपनी सोच बदलनी होगी।

उन्हें अपना सरमाया मीडिया के छोटे, आज़ाद और सच्चे प्लेटफॉर्म को खड़ा करने में लगाना होगा। हमें ऐसे न्यूज़ रूम और डिजिटल इदारे बनाने होंगे जहाँ सच्चाई की कीमत टीआरपी से ज़्यादा हो। जहाँ से निकलने वाली खबरें सिर्फ़ मुसलमानों का दुखड़ा न रोएं, बल्कि मुल्क के हर मजलूम, हर किसान और हर आम इंसान की आवाज़ बनें। जब हम दूसरों के हक के लिए बोलेंगे, तभी दूसरे हमारे हक में खड़े होंगे। अपनी आवाज़ खड़ी करते वक्त हमें अपनी एक बहुत पुरानी और बड़ी भूल को भी सुधारना होगा। हम अक्सर अपनी बात, अपनी दलीलें और अपने जज़्बात सिर्फ़ उर्दू या अपने ही छोटे से दायरे की ज़बान में बयान करते आए हैं। अगर हमें मुल्क के बहुसंख्यक समाज तक अपनी सच्चाई पहुंचानी है, तो हमें उनकी ज़बान में बात करनी होगी। हमारे लेख, हमारे वीडियो, हमारी किताबें और हमारी बातचीत आम और आसान हिंदी या मुकामी ज़बानों में होनी चाहिए। जब हम उनकी ज़बान में उनके दिलों और दिमागों तक पहुंचेंगे, तो नफरत की वह मोटी दीवार अपने आप दरकने लगेगी जो न्यूज़ चैनलों ने इतने सालों में खड़ी की है। अपना नैरेटिव तैयार करने का एक सबसे अहम उसूल यह है कि हमें हमेशा ‘सफाई पेश करने वाली’ मुद्रा से बाहर आना होगा। हम हमेशा उसी वक्त क्यों बोलते हैं जब हम पर कोई इल्ज़ाम लगता है? हमें अपनी खूबियों, अपनी तहज़ीब, अपनी मेहनत और इस मुल्क की तरक्की में अपने पसीने की महक को आम दिनों में भी दुनिया के सामने लाना होगा। हमारे जो नौजवान स्टार्ट-अप्स चला रहे हैं, जो मुल्क के लिए मेडल ला रहे हैं, जो समाज सेवा में दिन-रात एक कर रहे हैं, उनकी शानदार कहानियां हमें खुद दुनिया को सुनानी होंगी। हमें कैमरे का रुख उन गलियों की तरफ करना होगा जहाँ एक आम मुसलमान ईमानदारी से अपने हिस्से का मुल्क संवार रहा है। जब हम अपनी अच्छाइयों और अपनी हकीकत का शोर खुद मचाएं, तो दूसरों की फैलाई हुई झूठी आवाज़ें अपने आप मद्धम पड़ जाएंगी।

इसके अलावा, हमें अपने खुद के थिंक टैंक (वैचारिक संस्थाएं) बनाने होंगे। ऐसे इदारे जहाँ हमारे पढ़े-लिखे लोग बैठकर समाज के मसलों पर रिसर्च करें, मुल्क की अर्थव्यवस्था में हमारी हिस्सेदारी के आंकड़े जमा करें, और जब भी टीवी पर या अखबारों में हमारे खिलाफ कोई झूठ बोला जाए, तो वो पूरे तथ्यों और कागज़ात के साथ उस झूठ की बखिया उधेड़ सकें। हमारी लड़ाई जज़्बात से नहीं, बल्कि दस्तावेज़ों और दलीलों से लड़ी जानी चाहिए।

अपनी आवाज़ और अपने प्लेटफॉर्म खड़े करना कोई एक दिन या एक महीने का काम नहीं है। यह एक लंबा और थका देने वाला सफर है, जिसमें हमें बहुत सी रुकावटें भी मिलेंगी और शायद हमारे अपने लोग भी शुरू में हमारा साथ न दें या हमारा मज़ाक उड़ाएं। लेकिन अगर हम आज अपनी कहानी लिखने की हिम्मत नहीं जुटाएंगे, तो हमारी आने वाली नस्लें हमें कभी माफ नहीं करेंगी। वो हमसे पूछेंगी कि जब हमारे वजूद को मिटाने की साज़िशें हो रही थीं, तो क्या हमारे पास एक कलम, एक कैमरा या एक आवाज़ भी नहीं थी जो सच बोल सके?

इसलिए, अब वक्त का तकाज़ा यही है कि हम अपनी खामोशी को तोड़ें, अपने प्लेटफॉर्म बनाएं और एक ऐसी मज़बूत आवाज़ बनकर उभरें जिसे कोई नज़रअंदाज़ न कर सके। हमें दुनिया को यह बताना ही होगा कि हम वो नहीं हैं जो नफरत की स्क्रीन पर एक डरावने पुतले की तरह दिखाए जाते हैं, बल्कि हम वो हकीकत हैं जिनके पसीने और वफादारी से इस मुल्क की ज़मीन आज भी महकती है।

नई पीढ़ी के लिए एक पैगाम: डरने के बजाय पढ़ने, लिखने और मुख्यधारा में आने की ज़रूरत

इस किताब के आखिरी पन्नों तक पहुंचते-पहुंचते मेरे ज़हन में मुल्क के हालात की बहुत सी कड़वी और स्याह तस्वीरें गुज़री हैं। न्यूज़ रूम की उन चीखती आवाज़ों से लेकर सड़कों पर फैले उस खामोश खौफ तक, हमने हर उस ज़ख्म को छुआ है जो आज एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान की रूह पर लगा है। लेकिन एक किताब सिर्फ दर्द बयान करने के लिए नहीं लिखी जाती, किताब का असल मकसद वो रास्ता तलाशना होता है जो हमें अंधेरे से निकालकर रोशनी की तरफ ले जाए। और वो रास्ता हमारी नई नस्ल, हमारे नौजवानों और हमारे बच्चों के मज़बूत कदमों से होकर गुज़रता है। जब मैं घर में अपने बच्चों की तरफ देखता हूँ, या मुल्क के लाखों नौजवानों के चेहरों को पढ़ता हूँ, तो मुझे वहां एक अनजाना सा खौफ और मायूसी नज़र आती है। मेरा यह आखिरी पैगाम उसी खौफ को हौसले में बदलने की एक सच्ची कोशिश है। मेरे अज़ीज़ नौजवानों, मैं जानता हूँ कि तुम जिस दौर में अपनी जवानी की दहलीज़ पर कदम रख रहे हो, वह दौर आसान नहीं है। तुम्हारे हाथों में जो मोबाइल है, उसकी स्क्रीन सुबह से शाम तक तुम्हें यह बताने की कोशिश करती है कि तुम इस मुल्क में अजनबी हो, तुम एक खतरा हो। तुम्हें डराया जाता है, तुम्हारी नीयत पर सवाल उठाए जाते हैं। लेकिन तुम्हें यह समझना होगा कि यह खौफ कोई हकीकत नहीं है; यह एक हथियार है जिसे तुम्हें ज़हनी तौर पर कमज़ोर करने के लिए गढ़ा गया है। नफरत का बाज़ार चलाने वाले चाहते हैं कि तुम डर कर अपने घरों और अपनी बस्तियों में सिमट जाओ, या फिर गुस्से में आकर कोई ऐसी बेवकूफी कर बैठो जिससे उनका फैलाया हुआ झूठ सच साबित हो जाए। तुम्हें उनके इस बिछाए हुए जाल में हरगिज़ नहीं फंसना है। खौफ और गुस्से की इस सियासत का जवाब खौफज़दा होना या लड़ना नहीं है, इसका इकलौता और सबसे मुकम्मल जवाब है—पढ़ना, लिखना और आगे बढ़कर मुख्यधारा में अपनी जगह छीन लेना। इस जद्दोजहद की सबसे पहली और बुनियादी शर्त है—तालीम। लेकिन यहाँ तालीम से मेरा मतलब सिर्फ कोई डिग्री हासिल करके दफ्तर की नौकरी पाने से नहीं है। तुम्हें दुनिया को पढ़ना होगा, तारीख को समझना होगा और इस मुल्क के संविधान की ताक़त को अपनी रगों में उतारना होगा।

तुम्हें सिर्फ उन पेशों के पीछे नहीं भागना है जो सिर्फ पेट पालने की ज़मानत देते हैं। तुम्हें कानून की पढ़ाई करनी होगी ताकि तुम अदालतों में मजलूमों और बेगुनाहों की मज़बूत आवाज़ बन सको। तुम्हें इतिहासकार बनना होगा ताकि तुम मुल्क की तामीर में अपने पुरखों की कुर्बानियों को दुनिया के सामने फख्र से ला सको। तुम्हें प्रशासन और वकालत के मैदान में उतरना होगा ताकि मुल्क की नीतियां तय करते वक्त तुम्हारी भी बराबर की हिस्सेदारी हो। जब तुम्हारी तालीम सिर्फ किताबों तक महदूद नहीं रहेगी, बल्कि दुनिया के शोर को समझने और उसे काटने का ज़रिया बन जाएगी, तब कोई भी टीवी एंकर या नफरत फैलाने वाला तुम्हें जाहिल कहकर ज़लील नहीं कर पाएगा। इल्म वो वाहिद रोशनी है जो हर तरह के खौफ के अंधेरे को चीर सकती है। पढ़ने के साथ-साथ तुम्हें लिखना भी सीखना होगा। यह एक बहुत पुरानी सच्चाई है कि जो कौम अपनी कहानी खुद नहीं लिखती, उसकी कहानी दूसरे लोग एक मुज़रिम के तौर पर लिखते हैं। हमारी पिछली नस्लों ने कलम छोड़ने की जो खता की, उसका खमियाज़ा आज हम सब अपनी सड़कों पर भुगत रहे हैं। तुम्हें वो खता नहीं दोहरानी है। अपनी कलम उठाओ, अपने कीबोर्ड को अपना हथियार बनाओ। अपने लेख लिखो, अपनी किताबें लिखो, अपने वीडियो बनाओ और दुनिया को अपनी ज़बान में अपना सच बताओ। तुम्हें किसी के सामने सफाई नहीं देनी है, बल्कि तुम्हें अपने वजूद की ताकत का एहसास कराना है। जब तुम मुल्क के अलग-अलग अखबारों में, बड़े न्यूज़ पोर्टल्स पर और सोशल मीडिया के हर मंच पर अपनी तहज़ीब, अपनी मेहनत और अपनी देशभक्ति की दास्तान खुद लिखोगे, तो नफरत की वो झूठी आवाज़ें अपने आप मद्धम पड़ जाएंगी। तुम्हारी कलम में वो ताक़त होनी चाहिए जो स्क्रीन पर फैलाए गए हर झूठ को बेनकाब कर सके। और इस पूरे सफर की सबसे अहम मंज़िल है—मुख्यधारा में आना। हमने बहुत लंबे अरसे तक खुद को अपने ही बनाए हुए दायरों, मसलकों और मोहल्लों में कैद रखा। हमने अपनी एक अलग दुनिया बसा ली और यह सोच लिया कि शायद हम यहीं महफूज़ हैं। लेकिन इस अलगाव ने हमें मुल्क के बाकी लोगों से दूर कर दिया। अब वक्त आ गया है कि इन अदृश्य दीवारों को हमेशा के लिए गिरा दिया जाए। तुम्हें मुल्क की मुख्यधारा में आना होगा। अपने गैर-मुस्लिम दोस्तों और पड़ोसियों के साथ उठो-बैठो, उनके सुख-दुख में शामिल हो, और मुल्क के हर उस मुद्दे पर बात करो जो एक आम हिंदुस्तानी से जुड़ा है।

जब तुम सिर्फ मुसलमानों के मसलों पर नहीं, बल्कि मुल्क की महंगाई, बेरोज़गारी, पर्यावरण, शिक्षा और तरक्की पर अपनी बेबाक राय रखोगे, तब तुम एक सच्चे रहनुमा बनकर उभरोगे। समाज को यह महसूस होना चाहिए कि तुम्हारी फिक्र सिर्फ तुम्हारे अपने समुदाय तक महदूद नहीं है, बल्कि तुम इस मुल्क की रग-रग से वाकिफ हो और इसकी भलाई के लिए अपना पसीना बहाने को तैयार हो। जब तुम हर मंच पर मुल्क की बात करोगे, तो कोई तुम्हारी नागरिकता या तुम्हारी नीयत पर शक करने की जुर्रत नहीं कर सकेगा।

मुल्क की गंगा-जमुनी तहज़ीब आज भी ज़िंदा है, बस उस पर कुछ वक्त के लिए सियासत और नफरत की धूल जम गई है। इस धूल को साफ करने की ज़िम्मेदारी अब तुम्हारे नौजवान कंधों पर है। जब तुम तालीम के हथियार से लैस होकर, अपनी कलम की ताक़त के साथ मुल्क की मुख्यधारा में खड़े होगे, तो कोई भी साज़िश तुम्हारी शनाख़्त को मिटा नहीं पाएगी। डरने और मायूस होने का वक्त अब ख़त्म हो चुका है। अपने सिर को फख़्र से ऊंचा रखो, अपनी ज़मीन से बेपनाह मोहब्बत करो और अपने अमल से दुनिया को दिखा दो कि तुम इस मुल्क के वो शहरी हो जिसके बिना हिंदुस्तान की कोई भी मुकम्मल और खूबसूरत तस्वीर नहीं बन सकती। मुस्तक़बिल तुम्हारा इंतज़ार कर रहा है, और मुझे पूरा यकीन है कि तुम इसे नफरत की जंजीरों से आज़ाद कराकर, मोहब्बत और तरक्की की एक नई तारीख़ लिखोगे।

पाठकों के लिए सूचना: आपत्ति एवं सुधार

इस पुस्तक, “स्क्रीन का सच, ज़मीन का झूठ: हिंदुस्तानी मुसलमान और मीडिया की अदालत”, का उद्देश्य सामाजिक विषयों पर विचार और संवाद प्रस्तुत करना है। किसी व्यक्ति, संस्था या समुदाय की प्रतिष्ठा को अनुचित रूप से ठेस पहुँचाना लेखक एवं प्रकाशक का उद्देश्य नहीं है।

यदि किसी पाठक, व्यक्ति या संस्था को पुस्तक के किसी कथन, तथ्य, उद्धरण अथवा उल्लेख पर आपत्ति हो, तो उनसे निवेदन है कि संबंधित पृष्ठ संख्या, आपत्ति का स्पष्ट विवरण और उपलब्ध प्रमाण सहित लेखक या प्रकाशक को लिखित रूप में सूचित करें। प्रत्येक शिकायत पर गंभीरता और निष्पक्षता से विचार किया जाएगा। जाँच में कोई तथ्यात्मक त्रुटि अथवा अनुचित उल्लेख प्रमाणित होने पर आवश्यकतानुसार स्पष्टीकरण, संशोधन या संबंधित अंश हटाने की कार्रवाई की जाएगी। ऐसे सुधार आगामी संस्करण तथा उपलब्ध डिजिटल संस्करण में यथासंभव शामिल किए जाएँगे।

लेखक एवं प्रकाशक की अपेक्षा है कि किसी न्यायिक कार्रवाई से पहले संवाद और सुधार के माध्यम से विषय के समाधान का अवसर दिया जाए। यह अनुरोध किसी व्यक्ति के वैधानिक अधिकार, कानूनी समय-सीमा अथवा तत्काल न्यायिक राहत पाने के अधिकार को सीमित नहीं करता।

नोट: लागू कानून द्वारा अनुमत सीमा तक, इस पुस्तक से संबंधित किसी भी कानूनी विवाद का निपटारा केवल **देवबंद, जिला सहारनपुर, उत्तर प्रदेश** के सक्षम न्यायालय में होगा।

लेखक: **डॉ. सैयद नासिर शाह**

प्रकाशक: **Qalamse.com**

आपत्ति एवं सुधार हेतु ईमेल:

Redox55@gmail.com



मुसन्निफ़ के बारे में..

डॉ. सैयद नासिर शाह कोई नामवर पत्रकार या रिवायती अदीब (लेखक) नहीं हैं। वह इस मुल्क के करोड़ों आम, ज़मीन से जुड़े और तालीम-याफ़्ता हिंदुस्तानियों की उस भीड़ का एक खामोश चेहरा हैं, जो रोज़ाना अपनी आंखों के सामने अपने समाज और उसकी तहज़ीब को बदलते हुए देख रहे हैं।

सियासत और मीडिया के शोरगुल से दूर, **डॉ. सैयद नासिर शाह** एक ऐसे संवेदनशील इंसान हैं जो मुल्क के दुख-दर्द और समाज की बदलती हुई नफ़्सीयात को बहुत गहराई से महसूस करते हैं। उनका ताल्लुक एक ऐसे सादे परिवार से है जहाँ तालीम, इंसानियत और मुल्क की गंगा-जमुनी तहज़ीब को सबसे बड़ा सरमाया माना जाता है। यह किताब किसी बंद कमरे या लाइब्रेरी में बैठकर नहीं लिखी गई है। यह उन तजुर्बात, उस बेबसी और उस ज़हनी घुटन का सच्चा निचोड़ है जिसका सामना आज एक आम हिंदुस्तानी मुसलमान सड़कों पर, ट्रेनों में और अपने रोज़मर्रा के सफर में कर रहा है।

उनका यह पुख्ता यकीन है कि नफरत का जवाब कभी भी नफरत या जज़्बात से नहीं दिया जा सकता, बल्कि इसका मुकाबला सिर्फ और सिर्फ तालीम, दलील और हिकमत से ही मुमकिन है। अपनी इस किताब के ज़रिए उन्होंने मुल्क के उस खामोश तबके को एक बेबाक आवाज़ देने की कोशिश की है, जिनकी हकीकत को टीवी की स्क्रीन और सोशल मीडिया के झूठे शोर ने बहुत गहरे दफन कर दिया है। **डॉ. सैयद नासिर शाह** की यह कोशिश महज़ कुछ लफ़्ज़ों या पन्नों का सफर नहीं है, बल्कि यह एक आम इंसान की अपनी पहचान, अपने वजूद और अपने मुल्क से बेपनाह मोहब्बत की एक मुकम्मल और सच्ची दास्तान है।